कम्युनिकेटिंग कल्चर: टैलिंग रिप्रेजेंटेशन एंड लेज़र

(Communicating Culture: Telling Representation and Leisure)

बी.ए.(प्रोग्राम) इतिहास सेमेस्टर-VII

Discipline Specific Elective Course (DSE)

कोर्स क्रेडिट-4

AS PER THE UGCF-2022 AND NATIONAL EDUCATION POLICY 2020
(Department of History)

READING NOTES

अनुक्रम

		पेज नं.
इकाई-I	**कहावतें: मिथक, कहानियाँ और लोककथाएँ**	
	अध्याय-1: मौखिक परंपराएँ, लोकसाहित्य और सांस्कृतिक निरंतरता	1-12
	अध्याय-2: लोक आख्यान, आद्य-दृष्टि और सामाजिक प्रतिरोध	13-24
इकाई – II	**संचार के रूप में प्रदर्शन: दिव्य-लीला, भाट/चारण कथा-वाचन और कठपुतली कला**	
	अध्याय-3: प्रदर्शन-कलाएँ, पाठ्य-रूप और अभिव्यक्ति के माध्यम	25-34
	अध्याय-4: भारतीय लोक प्रदर्शन कलाओं के विविध आयाम	35-46
इकाई – III	**प्रदर्शन के रूप में जुलूस: यात्रा, बारात और जुलूस**	
	अध्याय-5: धार्मिक यात्राएँ, रथयात्रा और पवित्र स्थान पर अधिकार	47-55
	अध्याय-6: सामाजिक उत्सव, विवाह जुलूस और राष्ट्र-निर्माण के सार्वजनिक प्रदर्शन	56-64
इकाई -IV	**अवकाश: मन, शरीर और राष्ट्र**	
	अध्याय-7: शरीर, शारीरिक संस्कृति और खेल की उत्पत्ति	65-72
	अध्याय-8: खेल, औपनिवेशिक राजनीति और आधुनिक राष्ट्र-राज्य	73-79

इकाई I: आख्यान (Tellings: Myths, tales and folklore)

अध्याय 1

मौखिक परंपराएँ, लोकसाहित्य और सांस्कृतिक निरंतरता

भारत में कहानी सुनाना केवल समय काटने या मन बहलाने की क्रिया नहीं है। यह समाज की स्मृति को जीवित रखने, पीढ़ियों को जोड़ने, नैतिकता सिखाने और सांस्कृतिक पहचान को बार-बार नया रूप देने की सबसे पुरानी और सबसे टिकाऊ व्यवस्था है। इस अध्याय में हम देखेंगे कि भारतीय संदर्भ में 'आख्यान' का अर्थ क्या है, मौखिक परंपराएँ किन रूपों में मिलती हैं, लोकसाहित्य के तीन आयाम कौन-से हैं, और ये परंपराएँ समाज में कौन-से कार्य करती हैं। साथ ही यह भी परखेंगे कि आधुनिक दौर में इन परंपराओं के सामने कौन-सी चुनौतियाँ हैं और वे स्वयं को कैसे बचाए हुए हैं।

1.1 भारतीय संदर्भ में कहानी सुनाने का अर्थ

हिंदी में 'कहानी', 'कथा', 'आख्यान', 'गाथा' और 'किस्सा' जैसे शब्द एक-दूसरे के पास होकर भी अलग-अलग अर्थ-छटाएँ रखते हैं। 'कथा' में प्रायः धार्मिक या नैतिक गंभीरता का भाव होता है, जैसे सत्यनारायण कथा या हरिकथा। 'गाथा' में गायन और वीरता का स्वर आता है, जैसे आल्हा की गाथा। 'आख्यान' शब्द में किसी घटना-क्रम को विस्तार से सुनाने और सुनने वालों के सामने रखने का भाव है। 'किस्सा' अपेक्षाकृत हल्का और दास्तानगोई से जुड़ा शब्द है। इन सब शब्दों के पीछे एक साझा समझ है: कथा कही जाती है, सुनी जाती है और बदलती भी है।

इस पाठ्यक्रम की पहली इकाई का शीर्षक अंग्रेज़ी में 'Tellings' है। यह शब्द सोच-समझकर चुना गया लगता है, क्योंकि यह कथा को 'पाठ' या 'वस्तु' की जगह 'कहने की क्रिया' के रूप में देखता है। जब हम किसी कथा को केवल लिखित पाठ मान लेते हैं, तो उसका एक ही रूप हमारे सामने रह जाता है। परंतु जब हम उसे 'कहे जाने' के रूप में देखते हैं, तो हर बार की प्रस्तुति नई होती है। कहने वाला, सुनने वाला, अवसर, स्थान, मौसम और माहौल मिलकर कथा का रूप तय करते हैं। इसी कारण एक ही कथा का हर वाचन अपने आप में एक नई रचना है।

भारतीय समाज में कथावाचन की पहुँच बहुत व्यापक रही है। राजदरबार में चारण और भाट वंशावलियाँ और वीर-गाथाएँ सुनाते थे। मंदिरों और चौपालों में कथावाचक रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाएँ कहते थे। गाँव में दादी-नानी रात को बच्चों को लोककथाएँ सुनाती थीं। खेतों में काम करते हुए स्त्रियाँ गीतों के रूप में अपने जीवन के अनुभव गाती थीं। घुमंतू कलाकार पट और फड़ जैसे चित्रित वस्त्र लेकर गाँव-गाँव घूमते थे। हर जगह एक ही बात दोहराई जाती है: कथा समाज के बीच चलती है और समाज उसे अपने साथ चलाता है।

कथा सुनाने की कार्य-प्रणाली को तीन स्तरों पर समझा जा सकता है। पहला स्तर वक्ता का है। वक्ता केवल याददाश्त से नहीं बोलता। वह श्रोताओं को पढ़ता है, उनकी प्रतिक्रिया के अनुसार प्रसंग को लंबा या छोटा करता है और स्थानीय संदर्भ जोड़ता है। दूसरा स्तर श्रोता का है। श्रोता निष्क्रिय नहीं होते। वे टोकते हैं, 'हुंकारा' भरते हैं, सुधारते हैं और कई बार सह-गायक बन जाते हैं। तीसरा स्तर अवसर का है। विवाह, फसल कटाई, किसी देवता का उत्सव या मृत्यु के बाद के अनुष्ठान, हर अवसर अपने लिए अलग कथा या कथा का अलग अंश चुनता है।

इन तीनों स्तरों को मिलाकर देखें तो कथावाचन एक सामाजिक घटना है, केवल साहित्यिक क्रिया नहीं। गाँव की चौपाल पर होने वाला कथा-पाठ और शहर के किसी सभागार में होने वाला वही पाठ अलग-अलग अनुभव देते हैं, क्योंकि दोनों जगह श्रोताओं का आपसी संबंध अलग होता है। चौपाल पर श्रोता एक-दूसरे को जानते हैं, कथा के पात्रों में अपने रिश्तेदारों और पड़ोसियों की झलक देखते हैं और कथा के बीच में अपनी टिप्पणियाँ जोड़ते हैं। इस वातावरण में कथा 'सामूहिक संपत्ति' बन जाती है, जो किसी एक रचनाकार की नहीं, पूरे समुदाय की होती है।

भारत के अलग-अलग क्षेत्रों में कथा कहने की अपनी विशिष्ट शैलियाँ विकसित हुई हैं। महाराष्ट्र में कीर्तन और हरिकथा परंपरा में कथावाचक गायन, संवाद और व्याख्या को मिलाकर संत-कथाएँ सुनाता है। छत्तीसगढ़ की पंडवानी में महाभारत के प्रसंग एकतारा या तंबूरा के साथ अभिनय सहित गाए जाते हैं। आंध्र प्रदेश और तेलंगाना में बुर्रा कथा तंबूरे और बोलचाल की शैली में सामाजिक विषयों को भी उठाती है। राजस्थान में भाट, चारण, भोपा और कठपुतली-कलाकार अपनी-अपनी परंपराएँ निभाते हैं। बंगाल और झारखंड के पटुआ कलाकार लंबे चित्रित पट खोलकर गीत गाते हैं। उत्तर भारत की दास्तानगोई में किस्से और अलंकृत भाषा का मिश्रण है। इन सबमें साझा सूत्र यही है कि कथा बोली जाती है, गाई जाती है और दिखाई भी जाती है।

पटुआ परंपरा की एक रोचक मिसाल संथाल सृष्टि-कथा से जुड़ी है। पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर ज़िले के नया गाँव के चित्रकार लुत्फ़ा चित्रकार ने 2004-05 के आसपास संथालों की उत्पत्ति पर लगभग 278 सेंटीमीटर लंबा चित्रित पट बनाया। इस पट में जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा के आशीर्वाद से केकड़े, कछुए, साँप और मछली के पाताल से मिट्टी लाने की बात आती है, फिर तीन गायों से दो पक्षी, और पक्षियों के अंडों से पहला मनुष्य युगल पिलचू हड़ाम और पिलचू बूरी जन्म लेता है। यहाँ एक आदिवासी समुदाय की मौखिक सृष्टि-कथा को एक अन्य चित्रकार समुदाय अपने माध्यम में ढाल रहा है, और उसमें अपनी धार्मिक छवियाँ भी जोड़ रहा है। यह उदाहरण बताता है कि कथाएँ समुदायों की सीमाओं के पार यात्रा करती हैं और हर बार कुछ नया ओढ़ लेती हैं। इस पर हम अध्याय 2 में लौटेंगे।

कहानी सुनाने के अर्थ में एक और परत वक्ता की सामाजिक स्थिति से जुड़ी है। कई परंपराओं में कथा सुनाना किसी विशेष जाति या समुदाय का पैतृक पेशा रहा है। भाट और चारण वंशावली और यश-गायन के लिए जाने जाते थे। भोपा देवता के पुजारी और गायक दोनों होते हैं। गरोडा और पटुआ जैसे समुदाय चित्रित कथा के वाहक रहे हैं। तोलू बोम्मालता में कठपुतली-कला पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाला पैतृक शिल्प है। इसका अर्थ है कि कथा-परंपरा सामाजिक संरचना के साथ गहराई से बँधी है: कौन सुनाएगा, किसे सुनाएगा और किस अवसर पर सुनाएगा, यह सब सामाजिक नियमों से तय होता है। इस तथ्य के कारण लोकसाहित्य का अध्ययन करते समय जाति, वर्ग और लिंग के प्रश्न अपरिहार्य हो जाते हैं।

1.2 मौखिक परंपराओं के प्रमुख प्रकार

मौखिक परंपरा एक ही ढाँचे की चीज़ नहीं है। उसके भीतर अनेक विधाएँ हैं, और हर विधा का अपना उद्देश्य, लय और श्रोता-वर्ग है। नीचे दी गई तालिका में पाठ्यक्रम में दिए गए प्रमुख प्रकारों को संक्षेप में रखा गया है।

विधा	मुख्य स्वरूप	भारतीय संदर्भ का उदाहरण
महाकाव्य (Epic)	बहुत लंबी, प्रायः गायी जाने वाली वीर या धार्मिक कथा	रामायण, महाभारत; पाबूजी की फड़; आल्हा; तमिल धनुष-गीत
पौराणिक कथा (Myth)	सृष्टि, देवताओं और आदि पूर्वजों की पवित्र मानी जाने वाली कथा	संथाल सृष्टि-कथा; पुराणों की कथाएँ
दंतकथा (Legend)	ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्तियों और स्थानों से जुड़ी कथा	ढोला-मारू; स्थानीय वीरों और सतियों की कथाएँ
लोककथा (Folktale)	मनोरंजन और जीवन-शिक्षा देने वाली कल्पना-प्रधान कथा	राजा-रानी, पशु-पक्षी और चमत्कार की कहानियाँ
नीति कथा (Fable)	पशु-पक्षियों के माध्यम से नैतिक सीख	पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक कथाएँ
कहावतें	कम शब्दों में अनुभव का निचोड़	'जैसी करनी वैसी भरनी' जैसे लोकोक्ति-रूप
पहेलियाँ	बुद्धि-परीक्षा और भाषा-खेल	अमीर खुसरो से लेकर गाँव-गाँव की बुझौवल
चुटकुले	हास्य के सहारे सामाजिक टिप्पणी	बीरबल, तेनालीराम और गाँव के विदूषक-पात्र
लोकगीत	श्रम, संस्कार और ऋतुओं से जुड़ा गायन	सोहर, कजरी, बिरहा, विवाह-गीत, श्रम-गीत

इन विधाओं के बीच की रेखाएँ बहुत कठोर नहीं हैं। एक ही कथा कभी पौराणिक कथा के रूप में, कभी दंतकथा के रूप में और कभी लोकगीत के रूप में सुनाई जा सकती है। उदाहरण के लिए, किसी लोक-नायक की कहानी एक समुदाय के लिए पवित्र अनुष्ठान का हिस्सा हो सकती है, जबकि पड़ोस के गाँव में वही कहानी केवल मनोरंजन के लिए सुनाई जाती है। लोकसाहित्य के अध्येता विधा के इस लचीलेपन को समझे बिना वर्गीकरण को अंतिम सत्य नहीं मानते।

महाकाव्य और लोक-महाकाव्य का भेद भी महत्त्वपूर्ण है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य लिखित रूप में भी उपलब्ध हैं और मौखिक रूप में भी जीवित हैं। दूसरी ओर आल्हा, पाबूजी, देवनारायण और तमिल क्षेत्र के धनुष-गीतों जैसे लोक-महाकाव्य मुख्यतः गायन और प्रदर्शन के माध्यम से जीवित रहते हैं। इनके नायक प्रायः साधारण मनुष्य होते हैं, जो अपने साहस और बलिदान के कारण देवता का स्थान पा जाते हैं। स्टुअर्ट ब्लैकबर्न ने तमिल धनुष-गीत परंपरा

के बारे में यही कहा है कि इन गीतों के नायक-नायिकाएँ साधारण लोग हैं, और इनमें मृत नायक पुनर्जीवित नहीं होते; वे मर कर देवत्व पाते हैं। इसके विपरीत संस्कृत महाकाव्यों के नायक प्रायः राजा या अवतार होते हैं।

पौराणिक कथा और लोककथा का अंतर इस बात में है कि श्रोता उसे कैसे लेते हैं। पौराणिक कथा को समुदाय प्रायः सच्ची और पवित्र मानता है, क्योंकि वह संसार की उत्पत्ति और सामाजिक व्यवस्था की जड़ बताती है। लोककथा को लोग कल्पना मानकर सुनते हैं, फिर भी उसमें समाज की चिंताएँ और आदर्श छिपे रहते हैं। नीति कथाएँ इस रेखा के बीच में खड़ी हैं। पंचतंत्र की कथाओं में पशु पात्र हैं, पर संदेश सीधा मानव-समाज के लिए है। स्वयं ब्लैकबर्न ने सौ तमिल लोककथाओं के अपने संग्रह में लिखा कि लोककथाएँ अपने समाज का नैतिक संसार दर्ज करती हैं, इसलिए उन्होंने इस संग्रह को 'नैतिक कल्पनाएँ' नाम दिया। उन्होंने 1995-96 में तमिलनाडु के अलग-अलग क्षेत्रों में ये कथाएँ इकट्ठा कीं और इकतालीस कथावाचकों से सुनीं।

दंतकथाएँ अक्सर इतिहास और कल्पना के बीच की ज़मीन पर चलती हैं। ढोला-मारू को ही लें। कथा में नरवर के कछवाहा राजकुमार ढोला और पूगल की राजकुमारी मारू का बाल-विवाह होता है। बड़े होने पर ढोला अपना वचन भूल जाता है और मालवणी से विवाह कर लेता है। मारू विरह में बँधी रहती है, उसके संदेश ढोला तक नहीं पहुँचते, और अंत में घुमंतू लोक-गायकों के माध्यम से संदेश पहुँचता है। इस कथा में राजा, राज्य और स्थान-नाम ऐतिहासिक लगते हैं, पर घटनाएँ प्रेम-कथा और लोक-कल्पना की हैं। यही दंतकथा की विशेषता है।

कहावतें और पहेलियाँ अक्सर 'छोटी विधाएँ' कहकर अनदेखी कर दी जाती हैं, जबकि इनमें समाज की बौद्धिक शक्ति दिखती है। एक कहावत में पूरी जीवन-दृष्टि संक्षिप्त हो जाती है, और पहेली श्रोताओं को भाषा और तर्क के खेल में शामिल कर लेती है। कहावतें किसी बहस में अंतिम तर्क का काम भी करती हैं, क्योंकि 'बड़े-बुज़ुर्गों ने कहा है' कहने भर से बात को परंपरा का समर्थन मिल जाता है। चुटकुले और व्यंग्य-कथाएँ सत्ता और रूढ़ियों पर हँसकर सवाल उठाने का सुरक्षित तरीका देते हैं। लोकगीतों में स्त्रियों की आवाज़ विशेष रूप से सुनाई देती है, क्योंकि जो बातें सार्वजनिक भाषण में नहीं कही जा सकतीं, वे गीत की ओट में कही जाती हैं।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मौखिक परंपरा की विधाएँ केवल 'पाठ' के रूप में नहीं, 'प्रदर्शन' के रूप में समझी जानी चाहिए। गायक की आवाज़, संगत के वाद्य, श्रोताओं की प्रतिक्रिया और अवसर का माहौल मिलकर उसकी पहचान बनाते हैं। तमिल धनुष-गीत के लिए कम से कम पाँच लोगों की मंडली चाहिए, और उसमें उलटे रखे धनुष के साथ संगीत बजाया जाता है। पाबूजी की फड़ के लिए भोपा और भोपी की जोड़ी और रावणहत्था वाद्य ज़रूरी है। इसलिए केवल शब्दों को पन्ने पर उतार लेना इन परंपराओं को पूरी तरह पकड़ नहीं पाता। इसी कारण आगे इकाई 2 में प्रदर्शन को अलग से अध्ययन का विषय बनाया गया है।

1.3 मौखिकता का सिद्धांत: स्मृति, सूत्र और परिवर्तन

मौखिक परंपरा को समझने के लिए विद्वानों ने कई सैद्धांतिक औज़ार विकसित किए हैं। मिल्मन पैरी और अल्बर्ट लॉर्ड ने बाल्कन क्षेत्र के गायकों का अध्ययन करके बताया कि मौखिक कवि पूरी कविता को शब्द-दर-शब्द नहीं रटते। वे सूत्रात्मक वाक्यांशों, पूर्व-निर्धारित कथा-ढाँचों और छंद की लय के सहारे हर प्रस्तुति में कथा को नए सिरे से रचते हैं। इसे 'मौखिक-सूत्रात्मक सिद्धांत' कहा जाता है। भारत के गायकों पर भी यह बात काफ़ी हद तक लागू होती है। एक ही पाबूजी की कथा दो भोपाओं के मुँह से अलग-अलग रूपों में निकलती है, और फिर भी दोनों उसे 'वही कथा' कहते हैं।

एलिज़ाबेथ विकेट के शोध में भी यह बात दिखती है कि एक ही महाकाव्य की अलग-अलग जीवित प्रस्तुतियाँ शैली और पाठ दोनों में भिन्न होती हैं, इसलिए कोई भी एक रिकॉर्डिंग पूरी परंपरा का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

वॉल्टर ओंग ने 'मौखिकता' और 'साक्षरता' के बीच के अंतर पर जोर दिया। उनके अनुसार मौखिक संस्कृतियों में विचार को याद रखने के लिए लयबद्ध, दोहरावपूर्ण और स्मरणीय रूप में ढालना पड़ता है। इसी कारण मौखिक कथाओं में दोहराव, प्रश्नोत्तर, अनुप्रास और टेक जैसी युक्तियाँ बार-बार मिलती हैं। इन युक्तियों को कमज़ोरी मानना भूल होगी। ये स्मृति की तकनीकें हैं, जिन्होंने हज़ारों वर्ष तक ज्ञान को सुरक्षित रखा। लिखित भाषा में हम किसी बात को एक बार लिखकर बार-बार पढ़ सकते हैं, पर मौखिक संसार में बात तभी बचती है जब उसे बार-बार सुना-सुनाया जाए। इसीलिए मौखिक परंपरा में पुनरावृत्ति दोष नहीं, अस्तित्व की शर्त है।

भारतीय संदर्भ में एक विशेष बात यह है कि यहाँ मौखिकता और लिखित परंपरा एक-दूसरे के विरोधी नहीं रहे। वैदिक परंपरा में 'श्रुति' का अर्थ ही है 'सुना हुआ', और वेदों के पाठ को गुरु-शिष्य परंपरा से बहुत सटीकता के साथ कंठस्थ कराया जाता रहा। अनेक विद्वान मानते हैं कि इस कठोर पाठ-परंपरा के कारण वैदिक पाठ अपेक्षाकृत स्थिर रूप में सुरक्षित रहा। दूसरी ओर लोककथाओं और लोक-महाकाव्यों में परिवर्तन की स्वतंत्रता अधिक रही। यानी भारतीय मौखिक परंपरा के भीतर ही 'स्थिरता' और 'लचीलेपन' के दो ध्रुव मौजूद हैं। तमिल धनुष-गीतों में यह दोनों प्रवृत्तियाँ साथ दिखती हैं: ताड़-पत्रों पर लिखी पांडुलिपियों का अनुष्ठानिक महत्त्व है और गायक उन्हीं के आधार पर गाते हैं, पर जन्म-गीतों में कुछ तात्कालिक रचना की गुंजाइश भी रहती है, जबकि मृत्यु-गीतों में पाठ से हटना कम ही होता है। यह बताता है कि एक ही परंपरा के भीतर कथा के अलग-अलग अंशों के लिए अलग-अलग नियम काम करते हैं।

ए.के. रामानुजन ने 'तीन सौ रामायणें' नामक अपने प्रसिद्ध निबंध में दिखाया कि रामकथा संस्कृत, तमिल, कन्नड़, बांग्ला, जैन और बौद्ध परंपराओं में, और अनेक मौखिक रूपों में, बिल्कुल अलग-अलग ढंग से कही गई है। उनका निष्कर्ष यह था कि भारत में कथा का कोई एक 'मूल पाठ' और उसकी 'नकलें' नहीं होतीं। हर कथन अपने-आप में एक वैध रूप है। यही दृष्टि इस पूरे पाठ्यक्रम की रीढ़ है, क्योंकि जब हम रामनगर की रामलीला, पाबूजी की फड़ या तोलू बोम्मालता की प्रस्तुति देखेंगे, तो हमें सवाल यह नहीं पूछना है कि 'असली' कथा कौन-सी है, बल्कि यह कि इस प्रस्तुति में कथा क्या कर रही है।

संथाल सृष्टि-कथा इसका अच्छा उदाहरण है। संथाल समाज में ऐसी कथाएँ 'बिंति' कहलाती हैं और उन्हें गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से मौखिक रूप में आगे बढ़ाया जाता रहा। बाद में यूरोपीय मिशनरियों ने उन्हें लिपिबद्ध किया। हॉर कोलेन नामक संथाल गुरु ने सौ वर्ष से भी पहले यह कथा लार्स स्क्रेफ़्सरुड को सुनाई, जिसे बाद में पी.ओ. बोडिंग ने अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया। इसके बावजूद कथा के और भी रूप संथाल समुदाय के भीतर मिलते रहे, और अलग-अलग कथावाचकों से दर्ज रूपों में ब्योरों का फ़र्क साफ़ दिखता है। यह दिखाता है कि लिखित रूप आ जाने से मौखिक परंपरा खत्म नहीं होती। लिखित रूप उसका एक और पाठ बन जाता है।

मौखिकता के इस सिद्धांत से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला, मौखिक परंपरा को 'अशिक्षित समाजों की देन' मानना अनुचित है। वह एक विकसित बौद्धिक व्यवस्था है, जिसके अपने नियम, अपनी शुद्धता-कसौटी और अपने विशेषज्ञ हैं। दूसरा, किसी मौखिक रचना को लिख लेने से उसके अध्ययन का काम पूरा नहीं होता। हमें यह भी देखना होता है

कि वह किसने, किसके सामने, किस अवसर पर और किस लय में कही। आगे के अध्यायों में हम इसी दृष्टि से ढोला-मारू और पाबूजी की गाथाओं को देखेंगे।

1.4 लोकसाहित्य के तीन प्रमुख आयाम

लोकसाहित्य, जिसे अंग्रेज़ी में 'फ़ोकलोर' कहा जाता है, को पाठ्यक्रम तीन आयामों में बाँटता है: मौखिक परंपराएँ, भौतिक संस्कृति, और रूढ़िगत ज्ञान तथा अनुष्ठान। इन तीनों को अलग-अलग देखना सुविधाजनक है, परंतु व्यवहार में ये एक-दूसरे में गुँथे रहते हैं।

(क) मौखिक परंपराएँ। पहले आयाम में वे सब रचनाएँ आती हैं जो शब्द और ध्वनि के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती हैं। गाथाएँ, लोकगीत, कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ और मंत्र इसी श्रेणी में हैं। इनमें भाषा केवल सूचना का साधन नहीं, एक अनुभव है। वक्ता की आवाज़, लय, विराम और भाव-भंगिमा मिलकर कथा को अर्थ देते हैं। इसी कारण कोई मौखिक कथा जब कागज़ पर उतारी जाती है, तो उसका कुछ अंश अनिवार्य रूप से छूट जाता है। भारत के अनेक अभिलेखागार, जैसे ब्रिटिश लाइब्रेरी की संकटग्रस्त अभिलेखागार परियोजना और रूपायन संस्थान का संग्रह, इसी कारण ध्वनि-रिकॉर्डिंग और प्रतिलिपि दोनों को साथ रखते हैं।

(ख) भौतिक संस्कृति। दूसरा आयाम हाथ से बनी चीज़ों का है: मिट्टी और लकड़ी के खिलौने, कढ़ाई और बुनाई, चित्रित पट, कठपुतलियाँ, मुखौटे, आभूषण, घरों की दीवारों पर बनी अल्पना या भित्ति-चित्र, और औज़ार-उपकरण। पहली नज़र में ये वस्तुएँ 'शिल्प' लगती हैं, पर इनके भीतर भी कथाएँ बसती हैं। मधुबनी और वारली चित्र, पटचित्र और कावड़, लकड़ी के खिलौनों में रामायण-महाभारत के पात्र, ये सब वस्तु-रूप में कथा हैं। गुजरात के गरोडा चित्रकारों के पट, राजस्थान की पाबूजी की फड़ और आंध्र प्रदेश की चमड़े की छाया-कठपुतलियाँ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ वस्तु स्वयं कथा का वाहक बन जाती है। ज्योतिंद्र जैन जैसे कला-इतिहासकार बताते हैं कि भारत में चित्रित पट पर कथा दिखाने की परंपरा के साहित्यिक प्रमाण कम से कम ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक जाते हैं, और बौद्ध, ब्राह्मण और जैन साहित्य में चित्रपट दिखाने वालों के संदर्भ मिलते हैं। इसलिए भौतिक संस्कृति को केवल सजावट या बिक्री-योग्य वस्तु मानना लोकसाहित्य की समझ को अधूरा छोड़ देता है।

(ग) रूढ़िगत ज्ञान और अनुष्ठान। तीसरे आयाम में रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, लोक-विश्वास, लोक-चिकित्सा, ऋतु-संबंधी ज्ञान और अनुष्ठानिक क्रियाएँ आती हैं। नवजात के जन्म पर गाए जाने वाले गीत, विवाह की रस्में, फसल बोने से पहले की पूजा और मृत्यु के बाद के संस्कार सभी इसमें शामिल हैं। किसानों की कहावतों में मौसम और खेती का अनुभव सिमटा रहता है, और घरेलू नुस्ख़ों में लोक-चिकित्सा का ज्ञान। इनमें कथा और क्रिया साथ चलते हैं। तमिलनाडु के कोटै उत्सव में धनुष-गीत केवल गाए नहीं जाते, वे अनुष्ठान के साथ जुड़कर एक पवित्र कार्य बन जाते हैं, और उत्सव के दौरान नियुक्त माध्यम पर देवता का आवेश भी उतरता है। इसी तरह रामनगर की रामलीला कथा और अनुष्ठान का मिला-जुला रूप है। पाबूजी की फड़ को उसके अनुयायी चलता-फिरता मंदिर मानते हैं और रोग-निवारण के अनुष्ठानों में उसका प्रयोग करते हैं।

इन तीनों आयामों को एक साथ देखने पर लोकसाहित्य की असली प्रकृति समझ आती है। लोकसाहित्य कोई 'बीता हुआ अतीत' नहीं है, जो संग्रहालय में रखा जा सके। यह लोगों के रोज़मर्रा के जीवन में बहता है। अलन डंडिस की प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार 'लोक' का अर्थ किसी भी ऐसे समूह से है, जिसके सदस्यों में कोई साझा पहचान या जुड़ाव हो। इस परिभाषा के अनुसार केवल ग्रामीण या अनपढ़ लोग ही नहीं, बल्कि विद्यार्थी, सैनिक, डॉक्टर और आज के इंटरनेट-समुदाय भी अपना लोकसाहित्य रचते हैं। यह परिभाषा 'लोक' को ग्रामीण या पिछड़े समाज का पर्याय मानने वाली पुरानी धारणा को तोड़ती है।

तीनों आयामों के आपसी संबंध को एक उदाहरण से समझें। मान लीजिए किसी राजस्थानी गाँव में पाबूजी की फड़ का आयोजन हो रहा है। रात को चौक में फड़ टाँगी जाती है। यह भौतिक संस्कृति है। भोपा रावणहत्था बजाता है और भोपी कथा गाती है। यह मौखिक परंपरा है। दीपक लेकर भोपी फड़ के चित्रों के सामने नाचती है, श्रोता देवता को प्रणाम करते हैं और कुछ लोग रोग-मुक्ति की मन्नत माँगते हैं। यह अनुष्ठान है। इनमें से किसी एक आयाम को निकाल दें तो पूरा अनुभव बदल जाता है। यही कारण है कि लोकसाहित्य के विद्यार्थी को एक साथ भाषा, कला, धर्म और समाज की समझ चाहिए।

1.5 सामाजिक कार्य: एकजुटता और अपनेपन की भावना

लोकसाहित्य के कार्यों पर सबसे प्रभावशाली विचार विलियम बास्कॉम ने रखा। उन्होंने चार कार्य गिनाए: संस्कृति को वैधता देना, शिक्षा देना, सामाजिक नियंत्रण बनाए रखना और रोज़मर्रा के दबावों से मुक्ति देना। पाठ्यक्रम में सामूहिक एकजुटता, शिक्षाप्रद उद्देश्य और परंपराओं की वैधता तथा पुनराविष्कार का जो उल्लेख है, वह इन्हीं विचारों से जुड़ता है।

सबसे पहले एकजुटता को लें। जब किसी गाँव में सब लोग रात को एक ही लोकगाथा सुनने इकट्ठा होते हैं, तो वे केवल कथा नहीं सुन रहे होते। वे एक साझा स्मृति में भागीदार बनते हैं। कथा का नायक सबका नायक बन जाता है, उसका संघर्ष सबका संघर्ष बन जाता है, और उसकी विजय सबकी विजय। इस साझेदारी से 'हम' की भावना बनती है। समाजशास्त्री एमील दुर्खाइम ने सामूहिक अनुष्ठानों की इस शक्ति पर जोर दिया था कि वे व्यक्तियों को एक साझा भावनात्मक धरातल पर ले आते हैं। पाबूजी की फड़ के सामने बैठा रेबारी चरवाहा-समुदाय पाबूजी को अपना कुल-देवता मानता है और उनकी कथा में अपनी पहचान खोजता है।

संथाल सृष्टि-कथा में भी यही दिखता है। कथा के अनुसार आदि पूर्वज पिलचू हड़ाम और पिलचू बूढ़ी की संतानों से संथाल गोत्रों की उत्पत्ति की व्याख्या होती है। राष्ट्रीय संग्रहालय की प्रदर्शनी में दर्ज रूप में उनके सात पुत्र और आठ पुत्रियाँ हैं, जबकि पटुआ पट में सात पुत्र और सात पुत्रियाँ बताई गई हैं। संख्याओं का यह अंतर बताता है कि समुदाय के लिए कथा का मूल संदेश संख्याओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। संदेश यह है कि पुत्रों और पुत्रियों को अलग-अलग जंगलों में बसाने से जो अलगाव बना, उसी से जुड़ी हुई व्यवस्थाओं में विवाह, गोत्र और रिश्तों के नियम आगे चले। यानी कथा केवल सृष्टि का वर्णन नहीं करती, वह यह भी बताती है कि समुदाय के भीतर सामाजिक नियम क्यों ऐसे हैं। इस तरह कथा समुदाय की सामाजिक व्यवस्था की 'जड़' बन जाती है।

अपनेपन की भावना का संबंध भाषा और बोली से भी है। जब कोई गायक अपनी बोली में, अपने गाँव के प्रतीकों के साथ कथा कहता है, तो सुनने वाले को लगता है कि कथा उसके अपने घर की है। प्रवासी मज़दूर परदेस में अपने गाँव

के गीत सुनकर घर लौटने जैसा अनुभव करते हैं। इसी कारण लोकगीत और लोककथाएँ प्रवास, विस्थापन और शहरीकरण के दौर में पहचान बचाने का साधन बन जाती हैं। जब कोई समुदाय अपनी जगह से उखड़ता है, तब कथा उसके साथ 'चलता-फिरता घर' बन जाती है।

एकजुटता का एक पक्ष सामाजिक नियंत्रण भी है। लोककथाएँ और कहावतें बताती हैं कि कौन-सा व्यवहार सराहा जाएगा और कौन-सा निंदित होगा। जो लोग नियम तोड़ते हैं, उनके लिए कथाओं में दंड और उपहास की व्यवस्था है। यह पक्ष हमेशा सुखद नहीं होता, क्योंकि कई बार यही नियंत्रण असमानता को भी बनाए रखता है। इसलिए लोकसाहित्य का अध्ययन करते समय यह सवाल पूछना ज़रूरी है कि एकजुटता किसके लिए और किसकी कीमत पर बन रही है। अध्याय 2 में तमिल वीर-गाथाओं के प्रसंग में यह प्रश्न और तीखा होकर सामने आएगा।

एकजुटता का एक और रूप स्त्रियों की सामूहिक आवाज़ में दिखता है। विवाह-गीत, सोहर और श्रम-गीत ऐसे मंच हैं जहाँ स्त्रियाँ मिलकर अपनी खुशी और पीड़ा दोनों व्यक्त करती हैं। पाबूजी की फड़ की प्रस्तुति में भोपी, जो सामान्यतः घूँघट में रहती और बोलचाल में शांत रहती है, गायन के समय अपनी तीव्र आवाज़ से प्रस्तुति पर हावी हो जाती है। विकेट का अध्ययन बताता है कि इस परंपरा में स्त्री के स्वर की भूमिका निर्णायक है। इसलिए लोकसाहित्य केवल समाज की सतत व्यवस्था का समर्थक नहीं, कई बार हाशिये की आवाज़ों के लिए जगह भी बनाता है।

1.6 शिक्षाप्रद उद्देश्य: नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का हस्तांतरण

पाठ्यक्रम लोकसाहित्य के शिक्षाप्रद उद्देश्य, यानी 'डिडैक्टिक' कार्य, पर विशेष बल देता है। औपचारिक विद्यालयों के आने से बहुत पहले समाज अपने बच्चों को जीवन के नियम, काम के हुनर और नैतिक मूल्य कथाओं के माध्यम से सिखाता था। पंचतंत्र की रचना के बारे में परंपरागत कथा यह है कि राजकुमारों को राजनीति और व्यवहार-कुशलता सिखाने के लिए पशु-कथाओं का सहारा लिया गया। इस कथा की ऐतिहासिकता चाहे जो हो, इससे इतना स्पष्ट है कि भारतीय परंपरा ने कथा को शिक्षा का सशक्त उपकरण माना।

कथा द्वारा शिक्षा का तरीका सीधे उपदेश से भिन्न है। उपदेश में बात कही जाती है, जबकि कथा में बात दिखाई जाती है। श्रोता नायक के साथ चलता है, उसकी गलती देखता है, परिणाम भोगता है और अपने निष्कर्ष स्वयं निकालता है। इससे सीख केवल बुद्धि में नहीं, भावना में भी उतरती है। यही कारण है कि बचपन में सुनी कथाएँ जीवन भर याद रहती हैं। शिक्षा-शास्त्र की भाषा में कहें तो कथा 'अनुभवजन्य अधिगम' का साधन है, जिसमें विद्यार्थी स्वयं को कथा-पात्र की जगह रखकर सोचता है।

लोककथाएँ केवल नैतिकता ही नहीं सिखातीं, व्यावहारिक ज्ञान भी देती हैं। संथाल सृष्टि-कथा के अनुसार, जैसा विद्वानों ने दर्ज किया है, संथाल विश्व-दृष्टि में ब्रह्मांड मूल तत्वों के आधार पर समझा जाता है: आकाश, जल, मिट्टी और अग्नि। इस दृष्टि में मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं, उसी का हिस्सा है। जो समाज अपनी उत्पत्ति-कथा में केकड़े, कछुए और केंचुए को मिट्टी निकालने वाला बताता है, वह अपने बच्चों को सिखा रहा होता है कि जीव-जगत का हर प्राणी सृष्टि में सहभागी है। एक रूप में सृष्टिकर्ता ठाकुर जिउ पहले जलचर जीव बनाते हैं, फिर जब मिट्टी से बने पहले मनुष्यों को दिवस-अश्व रौंद देता है, तो वे हंस और हंसिनी की रचना करते हैं। इस कथा में सृष्टि की प्रक्रिया असफलताओं और सुधारों से गुज़रती है, जो सृष्टि को एक जीवंत और संवादात्मक प्रक्रिया की तरह प्रस्तुत करती है। यह पारिस्थितिक चेतना का पाठ है, जिसकी चर्चा हम अध्याय 2 में पंचमहाभूत के संदर्भ में विस्तार से करेंगे।

नीति कथाओं की शिक्षा शैली भी रोचक है। पंचतंत्र और हितोपदेश में एक बड़ी कथा के भीतर कई छोटी कथाएँ गुँथी होती हैं, और हर कथा किसी एक नीति-सूत्र को स्पष्ट करती है। यह ढाँचा श्रोता को बार-बार पीछे लौटने और पुनर्विचार करने का मौका देता है। जातक कथाओं में बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथाओं के माध्यम से करुणा, त्याग और सत्य जैसे मूल्य सिखाए जाते हैं। इन सभी परंपराओं में नायक की गलती या सफलता सीख का साधन बनती है, लेखक की उपदेश-शैली नहीं।

शिक्षा का एक रूप भाषा-शिक्षा भी है। पहेलियाँ और कहावतें बच्चों को शब्दों से खेलना, तर्क करना और रूपकों में सोचना सिखाती हैं। लोकगीत ऋतु-चक्र, फसलों और रिश्तों की शब्दावली सिखाते हैं। जब किसी भाषा या बोली के गीत और कथाएँ लुप्त होने लगती हैं, तो भाषा के साथ उसके भीतर बसा ज्ञान-संसार भी सिमटने लगता है। राजस्थानी भाषा और साहित्य की अध्येता अलेक्ज़ेंड्रा तुरेक बताती हैं कि राजस्थान की चारण परंपरा ने न केवल वीर-काव्य रचा, बल्कि ऐतिहासिक स्मृति को भी सँभाला, और डिंगल गीत जैसी विधाओं में इतिहास-लेखन, प्रदर्शन और मौखिक परंपरा आपस में घुल-मिल गए।

फिर भी शिक्षाप्रद उद्देश्य को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना ज़रूरी है। कथाएँ जो मूल्य सिखाती हैं, वे हमेशा सार्वभौमिक या न्यायपूर्ण नहीं होते। किसी कथा में स्त्री की आज्ञाकारिता को आदर्श बताया जा सकता है, किसी में जाति-व्यवस्था को स्वाभाविक ठहराया जा सकता है। इसलिए आधुनिक अध्येता यह देखते हैं कि कथा किसके दृष्टिकोण से कही जा रही है, और कौन-सी आवाज़ें उसमें दबा दी गई हैं। उदाहरण के लिए ढोला-मारू में मालवणी को प्रायः ईर्ष्यालु और बाधक सौत के रूप में चित्रित किया जाता है, और उसी के माध्यम से मारू की निष्ठा और विरह को महिमा मिलती है। आज की पाठक यह प्रश्न उठा सकती है कि कथा मालवणी के साथ कितना न्याय करती है। यही आलोचनात्मक पाठ-दृष्टि लोकसाहित्य को आज भी प्रासंगिक बनाए रखती है।

1.7 वैधता, पुनराविष्कार और प्रसार

पाठ्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु यह है कि जब परंपराओं पर प्रश्न उठते हैं, तब लोकसाहित्य संस्कृति को वैधता प्रदान करता है और उसका पुनराविष्कार तथा प्रसार भी करता है। इसे समझने के लिए पहले यह देखना होगा कि 'वैधता' का अर्थ क्या है।

हर समाज में कुछ ऐसे रीति-रिवाज होते हैं जिन पर बाहर वाले या नई पीढ़ी सवाल उठा सकती है: यह अनुष्ठान क्यों होता है, यह नियम क्यों माना जाता है, यह पर्व क्यों मनाया जाता है। ऐसे में पौराणिक कथा उत्तर बनकर आती है। वह कहती है कि यह सब आदि काल से ऐसा ही चला आ रहा है, और इसके पीछे देवताओं या पूर्वजों का विधान है। संथाल कथा में जब पिलचू हड़ाम और पिलचू बूढ़ी अपने बेटे-बेटियों को अलग-अलग जंगलों में बसाते हैं, तो कथा संथाल गोत्र-व्यवस्था को समझाने का स्रोत बन जाती है। इसी कथा में पूर्वजों की मृत्यु के बाद उनके दाह-संस्कार का भी उल्लेख है, ताकि आत्माओं को शांति मिले। इस तरह कथा किसी रीति का तर्क और अधिकार दोनों उपलब्ध कराती है।

परंतु वैधता देना एक दिशा की बात है। दूसरी दिशा पुनराविष्कार की है। इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम ने 'आविष्कृत परंपरा' का विचार दिया था, जिसके अनुसार कई परंपराएँ जितनी पुरानी दिखती हैं, उतनी होती नहीं, और समाज समय-समय पर उन्हें नए रूप में गढ़ता रहता है। लोकसाहित्य में यह प्रक्रिया सहज रूप से चलती है। ढोला-मारू की

कथा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इसकी मौखिक परंपरा ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक जाती है, जबकि जैन कवि कुशललाभ द्वारा रचित सबसे प्रसिद्ध लिखित रूप सोलहवीं शताब्दी का है। जिसे कुछ स्रोत 1617 की रचना बताते हैं, वह संभवतः विक्रम संवत है, जो ईस्वी सन् में लगभग 1560-61 बैठता है। उसके बाद यह कथा राजस्थानी लोक-नाट्य ख्याल में पहुँची, और बीसवीं शताब्दी में 1956 और 1983 की फ़िल्मों का विषय बनी। हर नए माध्यम में कथा ने अपने को नए ढंग से ढाला।

सुसान वैडली के अध्ययन में भी यह पुनराविष्कार दिखता है। उन्होंने ब्रज क्षेत्र की ढोला महागाथा का अध्ययन किया, जो नल-दमयंती की महाभारत-कथा और ढोला-मारू की राजस्थानी जैन कथा के तत्वों को जोड़ती है। वैडली के अनुसार इस गाथा में 'राजा के रूप में मान्यता' का विषय उस दौर के सामाजिक बदलाव से जुड़ा हुआ है, जब जाट किसानों की शक्ति बढ़ रही थी और राजपूत सत्ता को चुनौती मिल रही थी। यानी एक ही कथा-बीज अलग-अलग क्षेत्रों और वर्गों के हाथ में पहुँचकर अलग-अलग सामाजिक अर्थ ग्रहण कर लेता है।

प्रसार का प्रश्न भी इससे जुड़ा है। जब परंपराएँ अपने मूल गाँव या समुदाय से बाहर जाती हैं, तो वे नए श्रोताओं से मिलती हैं। रामकथा का फैलाव इसका सबसे बड़ा उदाहरण है, जो दक्षिण-पूर्व एशिया तक पहुँची और हर जगह स्थानीय रंग में रँग गई। छोटे स्तर पर देखें तो घुमंतू भोपा, चारण, कठपुतली-कलाकार और चित्रकथा-वाचक कथा के चलते-फिरते वाहक थे। वे एक गाँव से दूसरे गाँव कथा ले जाते और बदले में वहाँ की कथा-सामग्री अपने साथ ले आते। आंध्र प्रदेश के कठपुतली-कलाकारों के बारे में दर्ज है कि उनमें से कई महाराष्ट्र से आकर बसे और कालांतर में तेलुगु में प्रदर्शन करने लगे। इस प्रकार कथाएँ क्षेत्रों के बीच घुलती-मिलती रहीं।

वैधता और पुनराविष्कार के इस संबंध में एक तनाव भी है। परंपरा को 'शुद्ध' और 'अपरिवर्तनीय' बताने वाले लोग हर बदलाव को संस्कृति का क्षरण मानते हैं। जबकि लोकसाहित्य का इतिहास बताता है कि परंपरा बदलकर ही जीवित रहती है। जो कथा अपने को नए श्रोताओं के अनुरूप नहीं ढाल पाती, वह धीरे-धीरे भुला दी जाती है। इसीलिए अध्येता अब 'परंपरा बनाम आधुनिकता' की द्वंद्वात्मक सोच से हटकर यह पूछते हैं कि परंपरा आधुनिक परिस्थितियों में किस प्रकार अपनी जगह बना रही है।

1.8 सांस्कृतिक निरंतरता की चुनौतियाँ

आज मौखिक परंपराएँ कई तरह के दबावों में हैं। पहला दबाव आर्थिक है। पारंपरिक कथावाचकों और कठपुतली-कलाकारों को पहले राजाओं, जमींदारों और समुदायों से संरक्षण मिलता था। यह व्यवस्था टूटने पर उनकी आजीविका संकट में पड़ गई। आंध्र प्रदेश के तोलू बोम्मालता पर किए गए अध्ययनों में बार-बार यही चिंता दिखती है कि कलाकार-परिवार केवल इस कला से अपना पेट नहीं पाल सकते और दूसरे काम अपनाने को मजबूर हैं। जानकारी के अनुसार आंध्र प्रदेश के चमड़े के कठपुतली-उत्पादों को 2008 में भौगोलिक संकेत का दर्जा मिला, फिर भी इन कलाकारों के जीवन में बड़ा बदलाव नहीं आया।

दूसरा दबाव नए माध्यमों का है। टेलीविज़न, सिनेमा और अब मोबाइल पर उपलब्ध वीडियो ने श्रोताओं की आदतें बदल दी हैं। रात भर चलने वाली प्रस्तुति के लिए अब कम लोग समय निकाल पाते हैं। फिर भी यह तस्वीर पूरी तरह निराशाजनक नहीं है। कई कलाकार अब अपनी प्रस्तुतियाँ रिकॉर्ड करते हैं, सोशल मीडिया पर साझा करते हैं और संगीत-समारोहों और महोत्सवों में मंच पाते हैं। संग्रहालय और अभिलेखागार भी इन परंपराओं को सहेज रहे हैं।

ब्रिटिश लाइब्रेरी की संकटग्रस्त अभिलेखागार परियोजना के अंतर्गत जोधपुर के रूपायन संस्थान में कोमल कोठारी के संग्रह से ढोला-मारू के गायन की रिकॉर्डिंग की प्रतिलिपियाँ संरक्षित की गई हैं। तमिलनाडु में स्टुअर्ट ब्लैकबर्न के लगभग अठारह महीने के क्षेत्र-कार्य से धनुष-गीतों की करीब 175 घंटे की रिकॉर्डिंग जुटी, जिसका अभिलेख एक नृ-संगीतशास्त्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है। और एलिज़ाबेथ विकेट ने 2009 में पाबूजी की फड़ की चार जीवित प्रस्तुतियाँ फ़िल्माकर वर्ल्ड ओरल लिटरेचर प्रोजेक्ट में सुलभ कराईं।

तीसरा दबाव बाहरी दृष्टिकोण का है। उपनिवेश काल में कई मिशनरियों और प्रशासकों ने लोक-परंपराओं को 'अंधविश्वास' या 'शैतान की पूजा' कहकर तिरस्कृत किया। ब्लैकबर्न के शोध में दर्ज है कि तमिल धनुष-गीत परंपरा को मिटाने की इच्छा रखने वालों ने इसे इसी नाम से पुकारा था। आज का दृष्टिकोण भिन्न है, पर नया ख़तरा यह है कि परंपराओं को केवल 'पर्यटन-वस्तु' बना दिया जाए, जहाँ उनकी आत्मा चली जाती है और केवल दिखावा रह जाता है।

चौथा दबाव संरक्षण की नीति से जुड़ा है। जब किसी परंपरा को अभिलेखागार में बंद करके सुरक्षित किया जाता है, तो उसके सजीव रूप के बदलने का अधिकार कहीं पीछे छूट जाता है। अच्छे संरक्षण का अर्थ परंपरा को जमा देना नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों को बचाना है जिनमें वह साँस लेती है: श्रोता, अवसर, आजीविका और सम्मान। इसी दृष्टि से नागभूषण शर्मा ने भी आग्रह किया कि सरकार को कठपुतली-मंडलियों के हितों की रक्षा के लिए आगे आना चाहिए, ताकि यह परंपरा अपनी ही जन्मभूमि से मिट न जाए।

1.9 निष्कर्ष

इस अध्याय से तीन मुख्य बातें निकलती हैं। पहली, भारतीय संदर्भ में कथा 'कहने की क्रिया' है, जिसमें वक्ता, श्रोता और अवसर तीनों शामिल हैं। दूसरी, मौखिक परंपराएँ अनेक विधाओं में बँटी हैं, और लोकसाहित्य केवल शब्द का नहीं, वस्तु और अनुष्ठान का भी संसार है। तीसरी, लोकसाहित्य एकजुटता बनाता है, मूल्य सिखाता है, परंपरा को वैधता देता है और साथ ही उसे नए रूप में गढ़ता भी है, और इसी कारण वह आज भी जीवित है।

अगले अध्याय में हम इन सामान्य अवधारणाओं को तीन ठोस पाठों की रोशनी में परखेंगे: संथाल समुदाय की सृष्टि-कथा, राजस्थान की ढोला-मारू गाथा और तमिल वीर-गाथाएँ। वहाँ यह देखना रोचक होगा कि एक ही मौखिक परंपरा कहीं प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का दर्शन रचती है, कहीं प्रेम और विरह की अमर कथा बनकर मरुस्थल में बसती है, और कहीं शोषित वर्गों के लिए प्रतिरोध की भाषा बन जाती है।

1.10 संदर्भ ग्रंथ

- Primal Elements: The Oral Tradition, IGNCA (कनक मित्तल का निबंध इसी खंड में सूचीबद्ध)
- Santhal Folklore and the Banam, EZCC, 2020 (पूरा पढ़ा)
- Santal Mythology: How was the earth created?
- Birth of the first human couple (Karam Binti)
- Cosmography in the Oral Tradition of the Santhals, सुब्रत चक्रवर्ती
- Santala Creation Stories, बिओतकेश त्रिपाठी

- Cadence and Counterpoint: Santal Creation Stories, Google Arts & Culture
- The Origin of the Shantal, लुत्फ़ा चित्रकार
- Story-telling as sacred ritual: The Creation Myth of the Santals, इवी हंसदक
- Santal Origins (पटुआ पट)
- Folklore of the Santal Parganas, बोम्पास, 1909

अध्याय 2

लोक आख्यान, आद्य-दृष्टि और सामाजिक प्रतिरोध

संथालों की सृष्टि-कथा, राजस्थान की ढोला-मारू गाथा और तमिलनाडु के धनुष-गीत तीन अलग-अलग भूगोलों से आते हैं, पर तीनों यह दिखाते हैं कि लोक आख्यान एक साथ दर्शन, इतिहास, मनोरंजन और सामाजिक टिप्पणी का काम कर सकता है। इस अध्याय में हम पाठ्यक्रम के तीन आवश्यक पाठों, कनक मित्तल के संथाल-पौराणिक कथा संबंधी अध्ययन, अलेक्ज़ेंड्रा तुरेक की ढोला-मारू संबंधी विवेचना और स्टुअर्ट ब्लैकबर्न के तमिल वीर-गाथा संबंधी विश्लेषण, के आलोक में देखेंगे कि मौखिक आख्यान प्रकृति से संबंध, सांस्कृतिक पुनराविष्कार और वर्ग-प्रतिरोध की भाषा कैसे बनते हैं।

एक आवश्यक स्पष्टीकरण। इस शोध के दौरान तीनों मूल निबंधों के पूरे पाठ सीधे उपलब्ध नहीं हो सके। इसलिए नीचे का विश्लेषण इन विद्वानों के संबंधित प्रकाशनों, उनके विषय के आधारभूत स्रोतों, अभिलेखागारों और अन्य शोधकर्ताओं के कार्यों पर टिका है। जहाँ बात किसी विशेष निबंध के तर्क की है, वहाँ उसे पाठ्यक्रम की रूपरेखा और विषय के ज्ञात स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। विद्यार्थियों को सलाह है कि मूल निबंध पढ़कर इन बिंदुओं का मिलान स्वयं करें।

2.1 'आद्य-दृष्टि' और लोक आख्यान: एक भूमिका

'आद्य-दृष्टि' का आशय उस मूल या आदि दृष्टि से है जिससे कोई समुदाय संसार को देखता है: सृष्टि कैसे बनी, मनुष्य का स्थान क्या है, प्रकृति से उसका रिश्ता कैसा है और समाज के नियम कहाँ से आए। यह दृष्टि प्रायः दार्शनिक ग्रंथों में नहीं, मिथकों, गीतों और अनुष्ठानों में बसी होती है। रोमानियाई धर्म-इतिहासकार मिर्चा एलियाडे ने इसे यह कहकर समझाया कि सृष्टि की कथा हर प्रकार की रचना का आदर्श प्रतिमान बन जाती है। जब कोई समुदाय अपनी सृष्टि-कथा दोहराता है, तो वह उस आदि काल में लौट जाता है और उससे नई शक्ति पाता है।

कनक मित्तल का संथाल पौराणिक कथा संबंधी निबंध इसी बड़े विमर्श का अंग प्रतीत होता है। भारतीय कला केंद्र (इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र) की 'प्रकृति: अखंड दृष्टि' श्रृंखला के अंतर्गत बैद्यनाथ सरस्वती द्वारा संपादित खंड 'आद्य तत्व: मौखिक परंपरा' (1995) में 'एक संथाल मिथक: पंचतत्व' शीर्षक का निबंध कनक मित्तल के नाम से दर्ज है। इस खंड का केंद्रीय विचार यह बताया गया है कि पाँच आदि तत्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, सभ्यताओं और संस्कृतियों के विकास को निर्धारित करते रहे हैं, और समुदायों के प्राथमिक मिथक और अनुष्ठान प्रकृति को पवित्र बनाते हैं ताकि मनुष्य स्वयं को ब्रह्मांड का अभिन्न हिस्सा समझ सके। यही संदर्भ पाठ्यक्रम में दिए गए 'पंचमहाभूत' शब्द की पृष्ठभूमि है।

लोक आख्यान को 'आद्य-दृष्टि' के वाहक के रूप में पढ़ने के दो लाभ हैं। पहला, यह हमें मिथक को 'झूठी कहानी' मानने की आदत से बचाता है। मिथक का सत्य तथ्यात्मक नहीं, जीवनगत होता है: वह बताता है कि जीवन कैसे जिया जाए। दूसरा, यह हमें बाहर से थोपी गई कसौटियों के बजाय समुदाय की अपनी अवधारणाओं से चलने को प्रेरित करता है। उदाहरण के लिए 'पंचतत्व' भारतीय दर्शन की जानी-पहचानी श्रेणी है, पर संथाल कथा-परंपरा में तत्वों की गिनती और भूमिका हर जगह एक-सी नहीं मिलती। यह अंतर आगे दिखेगा।

2.2 पाठ 1: संथाल पौराणिक कथा और पंचमहाभूत

संथाल समुदाय की पृष्ठभूमि। संथाल भारत के सबसे बड़े आदिवासी समुदायों में गिने जाते हैं और झारखंड, बिहार, ओडिशा, पश्चिम बंगाल तथा असम के साथ-साथ बांग्लादेश में भी बसे हैं। उनका धर्म 'सारी धरम' कहा जाता है। उनके अपने मंदिर या मूर्तियाँ नहीं होतीं। साल वृक्ष को, जिसे संथाली में 'सारजोम' कहते हैं, सृष्टिकर्ता ठाकुर का प्रतीक माना जाता है, और उसके नीचे का स्थान 'जाहेरथान' या पवित्र उपवन देवताओं का निवास माना जाता है। हर संथाल गाँव जाहेरथान पर आधारित होता है। यहाँ मारांग बुरु, जाहेर एरा, धरम गोसाईं जैसे देवताओं की पूजा होती है। 'जाहेर एरा' का अर्थ धरती माता से जोड़ा जाता है, और बुवाई के समय गाँव का नायके या पुजारी ही धरती माता का आह्वान कर सकता है। इसके अतिरिक्त संथाल जीवन में 'बोंगा' नामक अदृश्य शक्तियाँ हर जगह मानी जाती हैं।

इस समुदाय में मौखिक आख्यान की एक सुसंगठित परंपरा है। उसे 'बिंति' कहा जाता है, जो सृष्टि, जीवन और बसाव की परंपरागत कथाओं का समूह है। 'जोमसिम बिंति' सृष्टि और पहले स्त्री-पुरुष की कथा कहती है, जबकि 'करम बिंति' धैर्य, भक्ति, निष्ठा और परिश्रम जैसे गुणों पर बल देती है। धर्मसंबंधी इन कथाओं के साथ पशु-कथाओं, भूत-प्रेत की कहानियों और जीवन-प्रसंगों का विशाल भंडार भी है। सी.एच. बोम्पास ने 1909 में 'संथाल परगना की लोककथाएँ' नाम से अनुवाद-संग्रह प्रकाशित किया, जिसमें बोडिंग की देखरेख में अधिकांश कहानियाँ संथाली में संथालों के हाथ से लिखवाई गईं, ताकि किसी यूरोपीय मस्तिष्क का प्रभाव न पड़े। यह प्रयास उस दौर की विद्वत्ता में प्रामाणिकता की चिंता को भी दिखाता है।

सृष्टि-कथा के विविध रूप। संथाल सृष्टि-कथा का कोई एक रूप नहीं है, और यही इस पाठ का सबसे महत्त्वपूर्ण पाठ है। इवी हंसदक के अनुसार, जिन्होंने एलियाडे के मिथक-सिद्धांतों के आधार पर इसका विवेचन किया है, मानवशास्त्रियों के बीच सामान्यतः दो मुख्य रूप जाने जाते हैं, और भिन्नताओं के बावजूद दोनों समकालीन संथाल समाज में मान्य हैं। इसके अलावा विभिन्न कथावाचकों और चित्रकारों के पास कई उप-रूप भी हैं। नीचे इनकी तुलना दी गई है।

स्रोत / रूप	मुख्य सृष्टिकर्ता	पृथ्वी कैसे बनी	पहले मनुष्य
हॉर कोलेन द्वारा स्क्रेफ़्सरुड को सुनाया रूप (1887), बोडिंग का अनुवाद	ठाकुर जिउ	आरंभ में केवल जल; मगरमच्छ, केकड़ा और केंचुए जैसे जीवों के प्रयास असफल; कछुए की पीठ पर मिट्टी	हंस और हंसिल के अंडों से पिलचू हड़ाम और पिलचू बूढ़ी
राष्ट्रीय संग्रहालय प्रदर्शनी में दर्ज रूप	मारांग बुरु, जाहेर एरा और सिंग बोंगा	मछली, केकड़ा और झींगा पाताल से मिट्टी लाते हैं; कछुए की पीठ पर केंचुआ मिट्टी रखता है; शेषनाग के फन पर कछुआ	पिलचू हड़ाम और पिलचू बूढ़ी
ईज़ेडसीसी की पुस्तक में 'जोमसिम बिंति'	ठाकुर और ठाकुरायन	पहले हंस-हंसिल बनते हैं; बाद में धरती पर उतरते हैं	कमल-पत्ते पर रखे अंडों से पिलचू

स्रोत / रूप	मुख्य सृष्टिकर्ता	पृथ्वी कैसे बनी	पहले मनुष्य
			हड़ाम और पिलचू बूरही
मयूरभंज के कथावाचक का रूप	ठाकुर	गजमति हाथी, गंगा और जल की कथा; कछुए और केंचुए से पृथ्वी	ठाकुर बुढ़ा और गंगी बूढ़ी जैसे नाम भी
मेदिनीपुर के पटुआ चित्रकार का पट	जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा के आशीर्वाद	केकड़ा, कछुआ, साँप और मछली पाताल से मिट्टी लाते हैं; तीन गायें	पिलचू हड़ाम और पिलचू बूरी

इन रूपों में कुछ तत्व स्थिर हैं: आरंभ में जल, जीवों का सहयोग, मिट्टी का पाताल से आना, पक्षी या गाय से मानव का जन्म, और पूर्वज युगल का नाम। कुछ तत्व बदलते हैं: सृष्टिकर्ता का नाम, सहायक जीवों की सूची, और पृथ्वी की रचना की विधि। पटुआ चित्रकार के पट में जगन्नाथ-बलराम-सुभद्रा का नाम आ जाना बताता है कि पड़ोसी हिंदू परंपरा का रंग कथा में घुल गया है। इसके विपरीत बोडिंग द्वारा दर्ज रूप में सृष्टि का मूल अधिक आदिवासी मुहावरे में है। फिर भी कोई रूप 'असली' और दूसरा 'नकली' नहीं है। यह अध्याय 1 में चर्चित रामानुजन की दृष्टि का सजीव उदाहरण है।

कथा का सार। कोलेन के रूप में कथा कुछ इस तरह चलती है। आरंभ में केवल जल था। सृष्टिकर्ता ठाकुर जिउ ने जल में रहने वाले जीव बनाए: केकड़ा, मगरमच्छ, कछुआ, झींगा, केंचुआ और अन्य। फिर उन्हें लगा कि जलचरों के साथ मनुष्य भी होना चाहिए। उन्होंने समुद्र की तली से मिट्टी लेकर दो मानव आकृतियाँ बनाईं, पर इससे पहले कि प्राण फूँकते, आकाश से उतरे सिन सदोम नामक दिवस-अश्व ने उन्हें रौंद डाला। क्रुद्ध ठाकुर ने तब मिट्टी से नहीं, अपने भीतर के पदार्थ से पक्षी बनाए: हंस और हंसिल। दोनों सुंदर जोड़ी थे, पर बैठने के लिए ज़मीन नहीं थी, इसलिए बार-बार ठाकुर के कंधों पर लौट आते थे। तब ठाकुर ने जल के ऊपर पृथ्वी बनाने का निश्चय किया। जीव बारी-बारी से मिट्टी निकालने की कोशिश करते हैं, पर ऊपर पहुँचते ही मिट्टी घुल जाती है। अंततः कछुआ पानी में स्थिर खड़ा होता है और केंचुए की निकाली मिट्टी उसकी पीठ पर टिकती है। वृक्ष उगते हैं और भूमि दृढ़ होती है। हंस-हंसिल सिरोम पौधों का घोंसला बनाते हैं, हंसिल दो अंडे देती है, और उनसे दो मानव शिशु जन्म लेते हैं। बड़े होने पर हंस-हंसिल उन्हें अपनी पीठ पर बिठाकर हिहिरी-पिपिरी नामक स्थान पर ले जाते हैं, जहाँ से संथाल मानव-वंश का विस्तार आरंभ होता है।

इस कथा की संरचना में कुछ बातें ध्यान खींचती हैं। पहली बात यह कि सृष्टि एक प्रयोग और संघर्ष की तरह चित्रित है। सृष्टिकर्ता सर्वशक्तिमान होते हुए भी ग़लती करता है, क्रोध करता है, पुनः विचार करता है और अंततः दूसरों की मदद से काम पूरा करता है। यह सृष्टि को एक सहयोगी प्रक्रिया बनाता है। दूसरी बात यह कि मनुष्य सीधे देवता की रचना नहीं, पक्षियों की संतान हैं। इस कारण संथाल कथा को 'हम हंसों से आए हैं' के रूप में भी पढ़ा गया है। संथाल कुलों के नाम भी इसी स्मृति को सँभालते हैं: बारह कुलों में 'हंसदक' का संबंध जंगली हंस से है, 'मुर्मू' नीलगाय से, 'किस्कू'

किलकिला पक्षी से, 'हेम्ब्रम' सुपारी के वृक्ष से और 'सोरेन' कृत्तिका नक्षत्र से जोड़ा जाता है। यानी कुल-पहचान में ही पशु, पक्षी और वनस्पति का साझा स्थान है।

पंचमहाभूत और पारिस्थितिक संतुलन। पाठ्यक्रम इस कथा के संदर्भ में जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि और आकाश के आध्यात्मिक तथा पारिस्थितिक संतुलन पर ध्यान दिलाता है। पहली बात यह कि संथाल परंपरा में तत्वों की गिनती हर जगह एक-सी नहीं है। सुब्रत चक्रवर्ती द्वारा संथालों की मौखिक परंपरा में ब्रह्मांड-विज्ञान पर किए गए अध्ययन में चार मूल तत्व दर्ज हैं: सेमा (आकाश), डाक (जल), हासा (मिट्टी) और सेंगेल (अग्नि)। दूसरी ओर पूर्वी क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्र की पुस्तक में संथाल वाद्य बनम के निर्माण-विधान में पाँच तत्व, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और आकाश, गिनाए गए हैं। इसलिए 'पंचमहाभूत' को संथाल परंपरा में किसी एक स्थिर गणित की तरह नहीं, बल्कि प्रकृति से संबंध के एक व्यापक ढाँचे की तरह समझना अधिक सटीक होगा।

बनम का उदाहरण विशेष रूप से रोचक है। संथालों में यह एक-तार वाला फिडल-जैसा वाद्य है, जिसे वे अपने शरीर का विस्तार मानते हैं। उसके सिर को आकाश, गर्दन और छाती को वायु, पेट को अग्नि और जल, तथा समूचे वाद्य को पृथ्वी का प्रतीक कहा जाता है। तार को प्राण माना जाता है, जो सब अंगों को जोड़कर पाँचों तत्वों को एक करता है। इस वाद्य के निर्माण की एक लोक-कथा भी है, जिसमें एक बहन के बलिदान से गुलंज बाहा नामक वृक्ष उगता है और उसकी शाखा से पहला ढोड़ो बनम बनता है। कथा के अनुसार यह वृक्ष बीज से नहीं उगता, उसकी कलम लगाई जाती है। इस प्रकार वाद्य, वृक्ष, देह और तत्व, चारों एक ही सूत्र में बँध जाते हैं। यह उदाहरण बताता है कि तत्वों की चर्चा अमूर्त दर्शन नहीं, संगीत, शिल्प और कथा के भीतर जीवित व्यवहार है।

सृष्टि-कथा में तत्वों का संबंध भी बारीकी से दिखता है। जल आरंभ की अवस्था है और सबसे पहला तत्व। पृथ्वी जल के भीतर से और जीवों के श्रम से निकलती है, इसलिए वह दान में नहीं मिली, अर्जित की गई है। वायु और आकाश पक्षियों के माध्यम से आते हैं: हंस-हंसिल हवा में उड़कर पृथ्वी के लिए संदेश लाते हैं और बाद में शिशुओं को पीठ पर बिठाकर उड़ाते हैं। अग्नि का प्रत्यक्ष प्रसंग कथा के इस अंश में कम है, पर संथाल अनुष्ठानों, दाह-संस्कार और बाद की कथाओं में उसकी जगह स्पष्ट है। आकाश से दिवस-अश्व का उतरना और ठाकुर के कंधे पर पक्षियों का लौटना बताता है कि आकाश और पृथ्वी के बीच जीवंत आवाजाही है। यह सब इसलिए पारिस्थितिक दर्शन कहलाने योग्य है कि इसमें किसी तत्व पर किसी का स्वामित्व नहीं, सब एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

थाडियस हेम्ब्रम ने सत्ताईस संथाल लोककथाओं के पाठ-विश्लेषण से यह तर्क रखा है कि संथाल स्वयं को प्रकृति की संतान मानते हैं और अन्य जीवों के साथ पारस्परिक लाभ तथा साझे स्थान में रहते हैं। मौमिता बाला और स्मृति सिंह ने बोडिंग के तीन खंडों में संकलित कथाओं के गीदड़-प्रसंगों का विश्लेषण करके दिखाया है कि इन कहानियों में पशु निष्क्रिय पात्र नहीं, कर्ता के रूप में आते हैं। इससे 'मनुष्य बनाम पशु' का द्वैत डगमगाता है। सृष्टि-कथा की यह दृष्टि रोज़मर्रा की कहानियों में भी जारी रहती है।

2.3 पाठ 2: ढोला-मारू: रेगिस्तान की जीवंत आख्यान परंपरा

कथा की रूपरेखा। ढोला-मारू उत्तर भारत, विशेषकर राजस्थान, की सबसे लोकप्रिय प्रेम-गाथाओं में है। कथा के प्रचलित रूप में नरवर के कछवाहा राजा नल का पुत्र ढोला और पूगल के राजा पिंगल की पुत्री मारू बचपन में ही विवाह-सूत्र में बाँध दिए जाते हैं। कुछ समय बाद नल की मृत्यु हो जाती है और ढोला बाल-विवाह की बात भूल जाता

है। वह मालवा की राजकुमारी मालवणी से दूसरा विवाह कर लेता है। उधर मारू युवा होती है और विरह में तपती रहती है। पिंगल बार-बार संदेश भेजता है, पर मालवणी संदेश-वाहकों को या तो बंदी बनवा देती है या मरवा देती है, ताकि ढोला तक कोई समाचार न पहुँचे। अंत में मारू का संदेश घुमंतू लोक-गायकों के माध्यम से ढोला तक पहुँचता है। ढोला पूगल की ओर चल पड़ता है। वहाँ उसका भव्य स्वागत होता है और दोनों का मिलन होता है। परंतु कथा यहाँ समाप्त नहीं होती। उमर-सूमर नामक एक सरदार, जो स्वयं मारू को पाना चाहता है, षड्यंत्र रचता है, और लौटते समय इस खतरे की चेतावनी भी लोक-गायक देते हैं। यात्रा में मारू के साँप के काटने से मृत्यु का प्रसंग भी आता है, जिसे कथा के रूप के अनुसार किसी चमत्कार या देवी-कृपा से पलटा जाता है। अंततः दोनों ऊँट पर बैठकर निकल भागते हैं और नरवर पहुँचते हैं।

इस रूपरेखा में कई स्तर हैं, जिन्हें अलग-अलग पढ़ना ज़रूरी है। ऊपरी स्तर पर यह दो प्रेमियों के वियोग और मिलन की कथा है। उसके नीचे यह राज-परिवारों के रिश्तों, क्षेत्रीय पहचानों और सत्ता-संघर्ष की कथा है। और सबसे नीचे यह रेगिस्तानी जीवन, उसके भूगोल और उसकी अर्थव्यवस्था की कथा है, जिसमें ऊँट, पानी, लंबी यात्राएँ और मौसम की भूमिका निर्णायक है।

अलेक्ज़ेंड्रा तुरेक और 'जीवंत परंपरा' की दृष्टि। वारसॉ विश्वविद्यालय की भारतविद् अलेक्ज़ेंड्रा तुरेक ने राजस्थान की लिखित और मौखिक परंपराओं पर दीर्घ अध्ययन किया है। उन्होंने 2005-06 में भारत सरकार की आईसीसीआर छात्रवृत्ति पर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में शोध किया, और 2009 में 'ढोला-मारू: उत्तर भारत की एक जीवंत आख्यान परंपरा' के रूप में अपना डॉक्टरेट शोध-प्रबंध पूरा किया। इसी विषय पर हिरोको नागासाकी और यारोस्लाव स्त्रनाद के साथ प्रकाशित उनकी पुस्तक 2012 में 'द धोला-मारू स्टोरी: ए लिविंग नैरेटिव ट्रेडिशन ऑफ़ नॉर्दर्न इंडिया' नाम से सामने आई। 2016 में उन्होंने शेखावाटी क्षेत्र में क्षेत्र-कार्य भी किया। यानी उनका दृष्टिकोण केवल पांडुलिपियों तक सीमित नहीं, बल्कि जीवित प्रस्तुतियों और समुदायों के साथ संवाद पर आधारित है।

तुरेक का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या 'ढोला मारू रा दूहा' केवल एक काव्यात्मक विस्तार है, या उसे मध्यकालीन राजस्थान की सांस्कृतिक जानकारी के स्रोत की तरह भी पढ़ा जा सकता है। उनका तर्क यह है कि कथा की मौखिक परंपरा उसके लिखित रूप से पहले की है और यह उसके सांस्कृतिक महत्त्व को गहराई देती है। लिखित रूप सोलहवीं शताब्दी से मिलते हैं: जैन कवि कुशललाभ की प्रसिद्ध रचना को वे 1561 की मानती हैं। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार मौखिक संचरण ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक पीछे जाता है। इसी रचना को कुछ अन्य स्रोतों में 1617 की रचना कहा गया है, जो संभवतः विक्रम संवत है। 'ढोला मारू रा दूहा' का संपादित पाठ काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। इस प्रकार एक ही कथा के दोहा-रूप, चौपाई-रूप और मौखिक रूप साथ-साथ चलते रहे।

तुरेक की एक और रोचक खोज 'ऊँट की दृष्टि से मारवाड़ की यात्रा' शीर्षक वाले अध्ययन में है। ढोला की चमत्कारी ऊँटनी या ऊँट मारवाड़ पहुँचकर निराश है, और कविता में ढोला तथा ऊँट के बीच संवाद के रूप में मारवाड़ का वर्णन आता है: अजनबी ढोला क्षेत्र की प्रशंसा करता है, जबकि रेगिस्तान का मूल निवासी पशु उसकी निंदा करता है। तुरेक के अनुसार यह विरोधाभास ऊपरी है और कथा में रस भरने की युक्ति है। इससे यह भी पता चलता है कि कथा में भूगोल केवल पृष्ठभूमि नहीं, पात्र की तरह बोलता है। अध्याय 1 में हमने देखा था कि कथाएँ अपने स्थान से संवाद करती हैं। ढोला-मारू में यह संवाद सबसे मुखर रूप में दिखता है।

संदेश-वाहक और मौखिक परंपरा की आत्म-छवि। कथा की एक विशेष बात यह है कि मारू का संदेश अंततः लोक-गायकों के माध्यम से पहुँचता है। राज-दरबार के सरकारी संदेश-वाहक असफल होते हैं, क्योंकि उन्हें रोकना आसान है। घुमंतू गायक सफल होते हैं, क्योंकि उन पर कोई संदेह नहीं करता और वे गाँव-गाँव घूम सकते हैं। यह प्रसंग मौखिक परंपरा की अपनी भूमिका की एक आत्म-व्याख्या जैसा पढ़ा जा सकता है: लोक-गायक वह चैनल हैं जो सत्ता की निगरानी से बच निकलते हैं, और जिनके द्वारा जनता की भावनाएँ और सूचनाएँ यात्रा करती हैं। यही गायक अंत में विपदा की चेतावनी भी देते हैं। यानी कथा के भीतर गायक मात्र सूचना-वाहक नहीं, सामाजिक रक्षक भी हैं।

जब हम कहते हैं कि कथा 'जीवंत परंपरा' है, तो इसका अर्थ यह है कि वह किसी एक रूप में जमी नहीं। राजस्थान, छत्तीसगढ़ और पंजाब जैसे अलग क्षेत्रों में ढोला-मारू की कथा के रूप मिलने की बात दर्ज है। राजस्थानी लोक-नाट्य 'ख्याल' में इसकी लोकप्रियता बहुत है, और कठपुतली के खेल में भी यह कथा प्रस्तुत की जाती है। बीसवीं शताब्दी में इस पर 1956 में एन. आचार्य और 1983 में मेहुल कुमार ने फ़िल्में बनाईं। जोधपुर के रूपायन संस्थान में कोमल कोठारी का संग्रह है, जिसमें 'ढोला मारवण' के गायन की रिकॉर्डिंग की प्रतिलिपि वाली एक कॉपी, कैलाश मेघवाल द्वारा लिखित, 49 पृष्ठों में सुरक्षित है। यह छोटी-सी अभिलेख-प्रविष्टि भी दिखाती है कि कथा के सजीव प्रस्तुतकर्ता कौन थे और उनका काम कैसे बचाया जा रहा है।

माध्यम / रूप	काल या संदर्भ	परिवर्तन की विशेषता
मौखिक गायन	ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से, द्विवेदी के अनुमान के अनुसार	क्षेत्र-विशेष की बोलियों, गायकों और अवसरों के साथ बदलती कथा
दोहा-रूप ('ढोला मारू रा दूहा')	मध्यकाल	संक्षिप्त काव्य-छंदों में भाव और भूगोल का चित्रण; बाद में संपादित पाठ
जैन कवि कुशललाभ की रचना	1561 या विक्रम संवत 1617	जैन कवि द्वारा रचित चौपाई-रूप; लिखित परंपरा में प्रमुख पाठ
ख्याल और कठपुतली	लोक-नाट्य परंपरा में	दृश्य, संगीत और अभिनय के साथ प्रदर्शन
ब्रज की 'ढोला' महागाथा	ब्रज क्षेत्र; सुसान वैडली का अध्ययन	नल-दमयंती और ढोला-मारू के तत्वों का मिश्रण
फ़िल्म	1956 और 1983	सिनेमाई प्रेम-कथा के रूप में नया जीवन

लिंग, विरह और सहानुभूति की राजनीति। ढोला-मारू को प्रायः विरह-काव्य कहा जाता है, और इसका केंद्रीय स्वर मारू की प्रतीक्षा और पीड़ा है। राजस्थानी लोक-संस्कृति में विरहिणी स्त्री की छवि बहुत गहरी है: प्रवासी पति की प्रतीक्षा करती पत्नी, जो कभी कौए से संदेश भेजती है, कभी बादल से। राजस्थान जैसे क्षेत्र में, जहाँ पुरुष लंबे समय के लिए व्यापार या सैन्य सेवा हेतु घर से दूर रहते थे, यह छवि सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है। इस दृष्टि से मारू की पीड़ा एक व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक अनुभव की अभिव्यक्ति है।

फिर भी इस कथा का लैंगिक विश्लेषण सहज नहीं है। मारू की भूमिका सक्रिय भी है: वह सपने में ढोला को देखती है, संदेश भेजने की युक्तियाँ ढूँढती है और अंत में अपने प्रेम को पाने के लिए साहस दिखाती है। दूसरी ओर मालवणी सौत के रूप में खलनायिका बना दी जाती है। एक पाठक यह पूछ सकता है कि दोषी वह स्त्री है या वह पुरुष जिसने वचन भुला दिया और दूसरा विवाह कर लिया। कथा का पारंपरिक झुकाव ढोला को क्षमा देने की ओर है, और मालवणी को खलनायिका बनाने से पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जवाबदेही ढक जाती है। इस प्रकार ढोला-मारू का अध्ययन करते समय सहानुभूति की राजनीति पर सवाल उठाना ज़रूरी है। लोक-कथा हमें यह भी दिखाती है कि समाज किन स्त्रियों को आदर्श और किन्हें खलनायिका मानता रहा।

पुनराविष्कार की रणनीतियाँ। पाठ्यक्रम ढोला-मारू के संदर्भ में पुनराविष्कार, यानी समय के साथ मौखिक आख्यानों के बदलते सामाजिक संदर्भों में ढलने और पुनर्जीवित होने, पर विशेष बल देता है। इस प्रक्रिया की तीन रणनीतियाँ दिखाई देती हैं। पहली, स्थानीयकरण: ब्रज क्षेत्र की ढोला गाथा में, सुसान वैडली के अध्ययन के अनुसार, कथा का रूप नल-दमयंती से मिल जाता है और जाट किसानों के उदय जैसे स्थानीय सामाजिक संघर्ष से जुड़ जाता है। दूसरी, माध्यम-परिवर्तन: गायन से दोहा, दोहे से रंगमंच और रंगमंच से सिनेमा तक। तीसरी, पुनर्संस्थानीकरण: अभिलेखागारों, विश्वविद्यालयों और सांस्कृतिक संस्थानों में कथा का दस्तावेज़ीकरण।

हर रणनीति के अपने जोखिम हैं। स्थानीयकरण में कथा का मूल स्वर बदल सकता है। माध्यम-परिवर्तन में कथा को छोटा और व्यावसायिक बनाने का दबाव रहता है। संस्थागत संरक्षण में कथा 'वस्तु' बन जाती है और जीवित गायक पीछे छूट सकते हैं। फिर भी यही प्रक्रियाएँ कथा को जीवित रखती हैं। एक कथा तब तक जीवंत है, जब तक कोई उसे अपने समय के सवालों से जोड़कर सुनाने और सुनने को तैयार है।

2.4 पाठ 3: तमिल वीर गाथाएँ और वर्गीय हित

धनुष-गीत की परंपरा। तमिलनाडु के सुदूर दक्षिण, तिरुनेलवेली और कन्याकुमारी ज़िलों, में 'विल्लुप्पाट्टु' या धनुष-गीत की परंपरा जीवित है। इसका नाम उस लंबे धनुष से पड़ा है जिसे मुख्य गायक वाद्य की तरह बजाता है। स्टुअर्ट ब्लैकबर्न ने इस परंपरा पर लगभग अठारह महीने का क्षेत्र-कार्य किया, जिससे करीब 175 घंटे की ध्वनि-रिकॉर्डिंग जुटी। उनकी पुस्तक 'गाने जन्म और मृत्यु के' (1988) इस विषय का आधारभूत अध्ययन मानी जाती है। इसके अलावा उन्होंने सौ तमिल लोककथाओं का संकलन 'नैतिक कल्पनाएँ' (2001) नाम से और तमिल वीर-गाथाओं पर 'लोक-नायक और वर्ग-हित' जैसे लेख भी लिखे।

ब्लैकबर्न के अनुसार धनुष-गीत पूर्ण महाकाव्य नहीं हैं। उनमें कई पीढ़ियों की लंबी कहानी या सप्ताह भर चलने वाले प्रदर्शन नहीं होते। ये सामान्यतः एक ही जीवन-काल की कथा कहते हैं और तीन से पाँच घंटे में पूरे होते हैं। फिर भी इन्हें भारतीय मौखिक महाकाव्यों की श्रेणी के निकट माना जाता है, क्योंकि इनके नायक-नायिकाएँ साधारण लोग हैं जो नियति, विश्वासघात, प्रतिशोध और ऐसी मृत्यु के नैतिक नाटकों में फँसे हैं जिससे उन्हें देवत्व प्राप्त होता है। लगभग चालीस अलग-अलग कथाएँ इस परंपरा में हैं, और इन्हें तीन-चार दिन तक चलने वाले मंदिर-उत्सव के केंद्र में एक अनुष्ठान की तरह गाया जाता है। अधिकतर कथाएँ किसी एक मंदिर में, उसी गाँव में गाई जाती हैं जहाँ माना जाता है कि वे घटनाएँ घटी थीं। इस अत्यंत स्थानीयता के कारण इन गीतों की पकड़ समुदाय पर गहरी है।

जन्म-कथाएँ और मृत्यु-कथाएँ। गायक अपनी कथाओं को दो श्रेणियों में बाँटते हैं: जन्म-कथाएँ और मृत्यु-कथाएँ। जन्म-कथाएँ देवी-देवताओं के जन्म और स्थान-ग्रहण की कहानियाँ हैं। उदाहरण के लिए मुत्तारम्मन देवी की कथा कैलास पर शिव के निवास से आरंभ होती है। वे पृथ्वी पर किसी अकाल या राक्षस के उपद्रव से लड़ने भेजी जाती हैं, स्थानीय रूप धारण करती हैं, विजयी होती हैं, और गीत उस क्षण पूरा होता है जब वे उसी मंदिर की मूर्ति पर फूल रखकर वहीं बस जाती हैं जहाँ प्रदर्शन हो रहा है। मृत्यु-कथाएँ पृथ्वी से आरंभ होती हैं और स्थानीय स्त्री-पुरुषों के जीवन-वृत्त कहती हैं, जो अन्याय से लड़ते हुए क्रूर और प्रायः असमय मृत्यु पाते हैं। यह अन्याय पारिवारिक छल, ज़मीन हड़पने की साज़िश या जातिगत भेदभाव कुछ भी हो सकता है। मृत्यु के बाद नायक का देवीकरण होता है और उसी मंदिर में उसकी पूजा होती है जहाँ गायक प्रस्तुति दे रहे होते हैं।

ए. मरियप्पन ने इन मृत्यु-कथाओं की एक समान संरचना की ओर संकेत किया है: हिंसा, देवीकरण, प्रतिशोध और स्थानीय पंथ की स्थापना। उनके अनुसार जब कथा का प्रमुख द्वंद्व जातिगत मर्यादा के उल्लंघन से जुड़ा होता है, जैसे निचली जाति के पुरुष और ऊँची जाति की स्त्री के बीच प्रेम या विवाह, तब यह उल्लंघन हिंसा, क्रूर मृत्यु, देवीकरण और पंथ-स्थापना की उसी शृंखला को जन्म देता है। इन कथाओं में मारवर जैसी जातियाँ भी नायक बनकर आती हैं, जिनका परंपरागत काम भूमि और संपत्ति की रखवाली था। तात्पर्य यह कि इन वीर-गाथाओं में वीरता का अर्थ केवल युद्ध-कौशल नहीं, अन्याय के सामने खड़े होना और उसकी कीमत चुकाना है।

मुत्तुप्पट्टन की कथा। ब्लैकबर्न ने जिन कथाओं का विशेष विश्लेषण किया है, उनमें मुत्तुप्पट्टन की कथा सबसे चर्चित है। एक ब्राह्मण परिवार में सात भाई हैं, जिनमें सबसे छोटा मुत्तुप्पट्टन है। भाइयों से अनबन के बाद वह घर से निकल जाता है और चक्किलियार जाति के एक मोची पकटै की दो बेटियों, पुम्मक्कल और तुम्मक्कल, से प्रेम करने लगता है। चक्किलियार जाति सामाजिक पदानुक्रम के सबसे निचले पायदानों में आती है। पकटै संदेह में है। एक तरफ़ उसे लगता है कि ब्राह्मण ने उसकी बेटियों की नीची सामाजिक स्थिति का फ़ायदा उठाना चाहा है, दूसरी तरफ़ उसे डर है कि ब्राह्मण का अपमान करके पाप न हो जाए। वह सोते हुए ब्राह्मण को जगाने के लिए उसे छूने के बजाय ताली बजाता है और कंकड़ फेंकता है। यहाँ गीत की भाषा में एक कहावत भी आती है: 'छुओ तो अपराध, परछाईं छू जाए तो पाप'।

कथा का सबसे लोकप्रिय क्षण वह है जब मुत्तुप्पट्टन पकटै को 'मामा' कहकर संबोधित करता है। दक्षिण भारत में मामा की बेटी से विवाह की परंपरा है, इसलिए यह एक शब्द ब्राह्मण और अछूत के बीच खड़ी सदियों की दीवार को तोड़ देता है और पकटै को ससुर के रूप में स्वीकार कर लेता है। पकटै शर्त रखता है: जनेऊ उतारो, शिखा मुँडवाओ, भभूत पोंछो, मैला वस्त्र पहनो, चक्किलियार की तरह बोलो, मरी हुई गाय का चमड़ा उतारो, मांस काटकर परोसो, और मेरे लिए चमड़े की चप्पलों का सुंदर जोड़ा सिलो। मुत्तुप्पट्टन ने जीवन भर ब्राह्मण-आचार में पला होने के बावजूद प्रेम के कारण ये सब माँगें स्वीकार कर लीं। वह परीक्षा तब पास करता है जब ससुर उसकी बनाई चप्पलें जाँचकर उन्हें उत्कृष्ट कारीगरी का नमूना पाता है। विवाह बड़े उत्साह से होता है। कथा आगे जाकर मुत्तुप्पट्टन की मृत्यु पर पहुँचती है, जब वह अपने ससुर के पशुओं को चोरों से बचाते हुए मारा जाता है।

कथा के प्रदर्शन में एक दिलचस्प विवरण है। जिन मंदिरों में मुत्तुप्पट्टन की पूजा होती है, वहाँ यह कथा मृत्यु तक गाई जाती है और अनुष्ठान बन जाती है। जिन मंदिरों में उसकी पूजा नहीं होती, वहाँ गायक विवाह पर कथा समाप्त कर देते हैं, ताकि मृत्यु के प्रसंग से उत्पन्न होने वाला आवेश और नृत्य न हो। यानी एक ही कथा के दो प्रदर्शन-रूप हैं: एक

मनोरंजन-प्रधान और दूसरा पूजा-प्रधान। ब्लैकबर्न की व्याख्या के अनुसार ब्राह्मण और अछूत के बीच विवाह जाति-व्यवस्था को सबसे सीधी चुनौती है। गायक और श्रोता न तो ब्राह्मण हैं, न अछूत। वे निम्न और मध्यम जातियों के लोग हैं, और यह कथा उनके लिए जाति-व्यवस्था के अंतर्निहित अन्याय का प्रतीक-कथन है, न कि कोई ऐतिहासिक वृत्तांत। एक समीक्षक के अनुसार इसी कथा में मुत्तुप्पट्टन 'जाति क्या है?' की टेक वाला गीत भी गाता है, और इस तरह जाति की धारणा को खंडित करता है।

वर्गीय हित: किसकी कथा, किसके लिए? ब्लैकबर्न का एक लेख 'तमिल वीर-गाथाओं में लोक-नायक और वर्ग-हित' शीर्षक से एशियन एथ्नोलॉजी में सूचीबद्ध है; इस शोध में उसका पूरा पाठ नहीं खुल सका, इसलिए यहाँ उसके सार पर नहीं, उसके केंद्रीय प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। प्रश्न यह है कि लोक-नायक किसका प्रतिनिधित्व करता है और उसकी कथा किसके हितों को आवाज़ देती है। इस प्रश्न के तीन आयाम हैं।

पहला आयाम है कथावाचकों का सामाजिक स्थान। ब्लैकबर्न के अनुसार धनुष-गीत के गायक प्रायः बीस से पचास वर्ष के पुरुष हैं और निम्न तथा मध्यम जातियों से आते हैं, मुख्यतः नाडार जाति से और कुछ पिल्लै जाति से। वे अर्ध-पेशेवर हैं, यानी प्रदर्शन से कुछ कमाते हैं, पर मुख्य आय छोटी ज़मीन या दुकान से होती है। इसलिए गीत केवल जनवरी से मई तक, यानी खेती के खाली मौसम में गाए जाते हैं। इसका अर्थ है कि इन कथाओं का स्वरूप किसानों और छोटे दुकानदारों की कैलेंडर-व्यवस्था और सामाजिक अनुभव से जुड़ा है। ये दरबार की कला नहीं, गाँव की आत्म-अभिव्यक्ति हैं।

दूसरा आयाम है नायक की सामाजिक स्थिति। कई मृत्यु-कथाओं में नायक जातिगत भेदभाव, भूमि-हड़प या पारिवारिक विश्वासघात के सामने खड़ा होता है। वह प्रायः मारा जाता है, पर मृत्यु के बाद देवता बनकर पूजित होता है। इस घटना का वर्ग-विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। समाज जिन लोगों को जीवित रहते न्याय नहीं दे पाता, उन्हें मृत्यु के बाद सर्वोच्च सम्मान देता है और उनके पूजा-स्थल बनाता है। इस सम्मान में अपराधबोध का भी हाथ है, पर साथ ही यह वंचित वर्ग की उस आकांक्षा को भी व्यक्त करता है कि न्याय किसी न किसी रूप में होना चाहिए। मंदिर में उस नायक की स्थापना उसके समुदाय के सामाजिक सम्मान को भी स्थापित करती है।

तीसरा आयाम है प्रदर्शन के भीतर बोलने का अधिकार। ब्लैकबर्न के वर्णन के अनुसार आधी रात के बाद जब नायक की मृत्यु का क्षण आता है, तो संगीत तेज़ होता है और दर्शकों में से कुछ स्त्री-पुरुष झूमने और घूमने लगते हैं। माना जाता है कि उन पर देवता बने नायकों की आत्माएँ उतर आई हैं। गीत समाप्त होने और पुजारी द्वारा पवित्र भस्म छिड़कने के बाद लोग उस आविष्ट व्यक्ति से प्रश्न पूछते हैं: दादी की बीमारी ठीक होगी या नहीं, बारिश कब होगी, बेटे का विवाह ममेरी बहन से करना चाहिए या नहीं। ऐसे समय में आविष्ट व्यक्ति वीर-देवता बन जाता है और जब वह बोलता है, तो देवता बोलता है। यहाँ एक साधारण गाँववासी को, जो सामान्य जीवन में जाति-पदानुक्रम में नीचे हो सकता है, कुछ घंटों के लिए सामुदायिक सत्ता और परामर्श देने का अधिकार मिल जाता है। यह वर्ग-संरचना के भीतर एक सुरक्षित, अनुष्ठान-सम्मत उलटाव है।

स्थानीय वेद और पाठ्य-शुद्धता। धनुष-गीत की एक और विशेषता इस विमर्श को जटिल बनाती है। कई प्रस्तुतियों में गायक के साथ ताड़-पत्र की एक पांडुलिपि रहती है, जिसकी भूमिका मुख्यतः प्रामाणिकता की गारंटी की है। लोग जानते हैं कि कहानियाँ कल्पना की ओर भटकने लगती हैं, और पांडुलिपि यह सुनिश्चित करती है कि गीत सही कथा

कहे। ब्लैकबर्न के अनुसार गायकों के लिए पाठ्य-शुद्धता का अर्थ अनुष्ठानिक प्रभावशीलता है: गीत ठीक से गाया गया, तो देवता प्रार्थना सुनेंगे, वर्षा देंगे, रोग से बचाएँगे और बच्चों को परीक्षा में सफल बनाएँगे। इसी कारण वे इन गीतों को 'स्थानीय वेद' तक कहते हैं। इस उदाहरण में वही बात दिखती है जो अध्याय 1 में कही गई थी कि भारतीय परंपरा में मौखिकता और लेखन विरोधी नहीं, पूरक रहे हैं। निम्न और मध्यम जातियों का वह वर्ग, जिसे अक्सर 'निरक्षर लोक' कहा जाता था, अपनी ही कथाओं के लिए लिखित प्रामाणिकता का आग्रह रखता है।

ब्लैकबर्न का एक और निष्कर्ष यह है कि ये स्थानीय कथाएँ शास्त्रीय हिंदू धर्म से बहुत अलग धर्म प्रस्तुत करती हैं। इनमें कर्म का विचार है, पर जन्म-मृत्यु-पुनर्जन्म का चक्र और मोक्ष की धारणा लगभग अनुपस्थित हैं। यहाँ केवल देवता ध्यान और तपस्या करते हैं। नायक मरकर भी जी उठते नहीं, पर गीतों, पत्थर की मूर्तियों और मंदिरों में जीवित रहते हैं। यह एक छोटे पैमाने की नैतिकता है, जिसमें विश्वासघात, प्रतिशोध, प्रेम, निष्ठा और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष केंद्र में हैं।

सांस्कृतिक प्रतिरोध: संभावनाएँ और सीमाएँ। पाठ्यक्रम पूछता है कि लोकसाहित्य किस प्रकार शोषित या निचले वर्गों के प्रतिरोध और सामाजिक चेतना का माध्यम बनता है। राजनीतिशास्त्री जेम्स स्कॉट की 'छिपे हुए पाठ' की अवधारणा यहाँ उपयोगी है। उनके अनुसार जो समूह सार्वजनिक रूप से सत्ता के सामने खुलकर विरोध नहीं कर सकते, वे अपनी असहमति गीतों, कथाओं, उपहास और प्रतीकों में सुरक्षित रखते हैं। धनुष-गीत इसका सशक्त उदाहरण हैं। मंदिर-उत्सव के पवित्र आवरण में वे जाति-पदानुक्रम की आलोचना कर सकते हैं, क्योंकि कथा का सुरक्षित सामाजिक अर्थ देवता की पूजा है।

फिर भी इस व्याख्या में दो सावधानियाँ ज़रूरी हैं। पहली, इन कथाओं में प्रतिरोध का स्वर स्पष्ट होने के बावजूद, नायक अंततः मारा जाता है, और व्यवस्था बाहर से जस की तस बनी रहती है। देवत्व पाना जाति-व्यवस्था को बदलना नहीं है। इसलिए आलोचक पूछ सकते हैं कि क्या यह प्रतिरोध का माध्यम है या ऐसा सुरक्षा-वाल्व जो असंतोष को अनुष्ठान में विसर्जित कर देता है। दूसरी, ब्लैकबर्न के अनुसार इन कथाओं की मुख्य पात्र प्रायः पुरुष हैं, जिससे स्त्री-अनुभव उतना केंद्र में नहीं आता, हालाँकि कुछ प्रस्तुतियों में स्त्री गायिकाएँ भी भाग लेती हैं। इसलिए 'शोषित वर्ग' की आवाज़ कहने से पहले यह सवाल पूछना होगा कि यह आवाज़ किसकी है और कौन इसमें अनसुना रह जाता है।

औपनिवेशिक काल में इन परंपराओं के प्रति बाहरी शत्रुता भी प्रतिरोध की एक अलग परत जोड़ती है। ब्लैकबर्न के अनुसार कुछ ईसाई मिशनरियों ने धनुष-गीतों को 'शैतान की पूजा' कहा और आशा की कि यूरोपीय की श्रेष्ठ शक्ति के सामने 'शैतान सिकुड़ जाएँगे'। परंपरा बच गई। 1970 के दशक के पहले व्यापक क्षेत्र-अध्ययन में सौ से अधिक मंदिर मिले जहाँ प्रदर्शन होते थे। उसके बाद अनुष्ठानिक पक्ष कमज़ोर हुआ और मनोरंजन का पक्ष बढ़ा। अब ये गीत स्कूल के कार्यक्रमों, राजनीतिक सभाओं, टेलीविज़न और फ़िल्मों में भी सुनाई देते हैं। ब्लैकबर्न के शब्दों का भाव यह है कि सांस्कृतिक पहचान के अनेक रूपों की तरह यह परंपरा अब अभ्यास से अधिक पहचान का प्रतीक बन चुकी है। यह स्थिति बताती है कि सांस्कृतिक प्रतिरोध और सांस्कृतिक पर्यटन के बीच की रेखा कितनी पतली है।

2.5 तीनों पाठों की तुलना

तीनों पाठ तीन अलग-अलग समाजों के हैं, पर उनकी तुलना से लोक आख्यान की कार्य-प्रणाली के बारे में कई बातें स्पष्ट होती हैं।

पक्ष	संथाल सृष्टि-कथा	ढोला-मारू	तमिल धनुष-गीत
समुदाय और क्षेत्र	झारखंड, बंगाल, ओडिशा, असम के संथाल	राजस्थान और उत्तर भारत के कई क्षेत्र	तिरुनेलवेली और कन्याकुमारी, तमिलनाडु
आख्यान का प्रकार	सृष्टि का मिथक	प्रेम-वियोग की दंतकथा	जन्म और मृत्यु की वीर-गाथाएँ
केंद्रीय प्रश्न	मनुष्य और प्रकृति का रिश्ता क्या है	प्रेम, वचन और दूरी कैसे निभते हैं	अन्याय के सामने नायक का क्या मूल्य है
प्रदर्शन-रूप	बिंति का वाचन, गीत, चित्रित पट और वाद्य	दोहा, गायन, ख्याल, कठपुतली, फ़िल्म	धनुष, मटका, झाँझ; मंदिर-उत्सव; आविष्ट नृत्य
परिवर्तन की दिशा	कई वाचन-रूप; मिशनरियों द्वारा लिखित; पटुआ पट में पुनर्प्रस्तुति	मौखिक से दोहा, ख्याल, फ़िल्म तक	अनुष्ठान से मनोरंजन और पहचान-प्रतीक तक
प्रतिरोध या निरंतरता का रूप	प्रकृति-केंद्रित जीवन-दृष्टि द्वारा आदिवासी पहचान की रक्षा	लोक-गायकों के माध्यम से सत्ता की निगरानी से बचकर संवाद	जाति-पदानुक्रम पर नैतिक टिप्पणी और वीर-देवताओं की सामाजिक सत्ता

इस तुलना से तीन निष्कर्ष निकलते हैं। पहला, तीनों कथाएँ इस अर्थ में 'जीवंत' हैं कि वे केवल एक पाठ के रूप में नहीं, प्रदर्शन के रूप में अस्तित्व रखती हैं। दूसरा, तीनों में कोई 'मूल' पाठ नहीं, बल्कि अनेक वैध रूप हैं, और इन रूपों के अंतर में ही समाज के बदलते हित और संघर्ष पढ़े जा सकते हैं। तीसरा, तीनों बाहरी हस्तक्षेपों का सामना करती रही हैं, जैसे मिशनरियों का लेखन और निंदा, राज-संरक्षण की समाप्ति, सिनेमा और अब डिजिटल माध्यम, और हर बार कथा ने अपनी जगह बनाई है। संथाल समुदाय की 1855-56 की 'हूल' के संदर्भ में यह भी याद रखना चाहिए कि जीवन-दृष्टि की रक्षा कई बार केवल कथा तक सीमित नहीं रहती; वह कभी-कभी सीधे सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का रूप भी ले लेती है।

2.6 निष्कर्ष

इस अध्याय ने दिखाया कि 'आख्यान' केवल कथा नहीं, एक दृष्टि और एक सामाजिक क्रिया है। संथाल सृष्टि-कथा में वह मनुष्य को प्रकृति के बीच सह-अस्तित्व वाले प्राणी के रूप में रखती है। ढोला-मारू में वह एक प्रेम-कथा के

माध्यम से भूगोल, इतिहास, स्त्री-स्वर और माध्यम-परिवर्तन की जटिल गाथा रचती है। तमिल धनुष-गीतों में वह जाति और वर्ग-संरचना पर सवाल उठाने वाली नैतिक भाषा बन जाती है।

अगली इकाई में हम इन आख्यानों को 'प्रदर्शन' के रूप में देखेंगे। अध्याय 3 में हम पूछेंगे कि संस्कृति को पाठ और प्रदर्शन के बीच कैसे समझा जाए, और अध्याय 4 में रामलीला, गरोडा चित्र-पट, पाबूजी की फड़ और छाया-कठपुतली जैसे ठोस उदाहरणों से देखेंगे कि मंच, चित्र और ध्वनि मिलकर कथा को कैसे जीवित रखते हैं।

2.7 सन्दर्भ ग्रंथ

- [(De)Constructing Man-Animal Binary in Santal Folktales](https://www.iupindia.in/0623/English Studies/De_Constructing_Man.asp)
- Karam Binti: The Oral Tradition of Santals, स्टेफ़ी मुर्मू
- Is the Dhola Maru ra duha only a poetic elaboration? अलेक्ज़ेंड्रा तुरेक
- Aleksandra Turek, वारसॉ विश्वविद्यालय, प्रकाशन-सूची
- A Journey Through Marvar from the Perspective of a Camel, तुरेक
- Raja Nal and the Goddess: The North Indian Epic Dhola in Performance (सुसान वैडली की समीक्षा)
- Dhola Maru, विकिपीडिया
- ढोला मारवण, कोमल कोठारी संग्रह, ब्रिटिश लाइब्रेरी
- Voices of the Thar Desert, तुरेक का व्याख्यान
- Bow Song Tradition, स्टुअर्ट ब्लैकबर्न (पूरा पढ़ा)
- The Folk Hero and Class Interests in Tamil Heroic Ballads, ब्लैकबर्न (केवल सूचीबद्ध पृष्ठ देखा)
- Villupattu, ARCE प्रदर्शनी
- Stories of Birth and Death in Villupattu of Tamil Nadu, ए. मरियप्पन
- ब्लैकबर्न की पुस्तकों की समीक्षाएँ, Asian Ethnology (मुत्तुप्पट्टन)
- Moral Fictions: Tamil Folktales, समीक्षा

इकाई II: संचार के रूप में प्रदर्शन: दिव्य-लीला, भाट/चारण कथा-वाचन और कठपुतली कला

अध्याय 3

प्रदर्शन-कलाएँ, पाठ्य-रूप और अभिव्यक्ति के माध्यम

भारत में संस्कृति केवल पुस्तकों में नहीं रहती, वह मंच, आँगन, मंदिर-प्रांगण, चौक और गली में चलती-फिरती रहती है। इस अध्याय का केंद्रीय तर्क यह है कि प्रदर्शन-कलाएँ, चाहे वे दिव्य-लीलाएँ हों, भाट और चारणों का कथा-वाचन हो या कठपुतली का खेल, केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि ज्ञान के हस्तांतरण, सामाजिक चेतना और धार्मिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हैं। हम पहले यह परखेंगे कि 'पाठ्य-रूप' और 'प्रदर्शन-रूप' के बीच सैद्धांतिक संबंध क्या है, फिर भारतीय परंपरा के भीतर से प्रदर्शन की समझ, यानी नाट्यशास्त्र की दृष्टि, को देखेंगे, और अंत में तीन प्रदर्शन-रूपों को संचार-माध्यम के रूप में विश्लेषित करेंगे।

3.1 संस्कृति का संचरण: पश्चिमी बनाम पूर्वी दृष्टिकोण

पाठ्यक्रम की रूपरेखा एक तुलनात्मक कथन से आरंभ होती है। इसके अनुसार पश्चिमी परंपरा में संस्कृति को मुख्यतः लिखित ग्रंथों और कलाकृतियों, यानी 'टेक्स्ट्स एंड आर्टिफ़ैक्ट्स', में संरक्षित माना जाता रहा, जबकि पूर्वी समाजों में संस्कृति मुख्यतः 'प्रदर्शन' के रूप में आगे बढ़ती रही है। यह कथन एक उपयोगी प्रस्थान-बिंदु है, पर इसे सावधानी से पढ़ना चाहिए, क्योंकि यह दो विशाल सभ्यताओं का सरलीकरण भी है।

सरलीकरण इसलिए कि पश्चिम की अपनी प्रदर्शन-परंपराएँ गहरी हैं: यूनानी त्रासदी, मध्यकालीन यूरोप के धार्मिक नाटक, होमर की मौखिक काव्य-परंपरा और लोक-नाट्य, ये सब प्रदर्शन के उदाहरण हैं। दूसरी ओर पूर्व, विशेषकर भारत, की अपनी लिखित परंपराएँ भी अत्यंत समृद्ध हैं: वेद, उपनिषद्, महाकाव्य, पुराण, नाट्यशास्त्र, जैन और बौद्ध साहित्य, और असंख्य पांडुलिपियाँ। इसलिए इस कथन का सही अर्थ यह नहीं कि एक जगह केवल पाठ है और दूसरी जगह केवल प्रदर्शन। इसका अर्थ यह है कि आधुनिक पश्चिमी विद्वत्ता ने संस्कृति को समझने के लिए लंबे समय तक पाठ और वस्तु को अधिक महत्त्व दिया, जबकि भारतीय समाजों में संस्कृति के जीवित होने का सबसे सहज प्रमाण उसके प्रदर्शन में दिखता है।

इस दृष्टिकोण-भेद का एक बड़ा उदाहरण मिल्टन सिंगर का कार्य है। अमेरिकी मानवशास्त्री सिंगर ने 1950 के दशक के मध्य में मद्रास में हिंदू धर्म पर क्षेत्र-कार्य किया। उन्होंने पाया कि जब वे अपने भारतीय सूचनादाताओं से अपनी संस्कृति के किसी पक्ष को समझाने को कहते, तो वे उन्हें किसी 'प्रदर्शन' में ले जाते थे: मंदिर का उत्सव, कथा-वाचन, नृत्य, संगीत-सभा या विवाह-अनुष्ठान। सिंगर के निष्कर्ष के अनुसार ये प्रदर्शन भारतीय संस्कृति की सबसे ठोस, प्रेक्षणीय इकाइयाँ माने जा सकते हैं। उन्होंने इसी को 'सांस्कृतिक प्रदर्शन' (कल्चरल परफ़ॉर्मेंस) कहा। प्रदर्शन-अध्ययन के इतिहासकार मानते हैं कि यह अवधारणा संस्कृत के विद्वान वेंकटरमण राघवन जैसे भारतीय सहयोगियों की सलाह से विकसित हुई। इस तरह प्रदर्शन-अध्ययन के प्रमुख आधार-विचारों में से एक का जन्म भारतीय अकादमिक जगत से जुड़ा हुआ है। सिंगर का यह कार्य 'ट्रेडिशनल इंडिया: स्ट्रक्चर एंड चेंज' (1959) में आरंभ होकर 'व्हेन अ ग्रेट ट्रेडिशन मॉडर्नाइज़ेज़' (1972) में विस्तार पाता है।

सिंगर और उनके सहयोगी रॉबर्ट रेडफ़ील्ड ने 'महान परंपरा' और 'लघु परंपरा' की जो द्विविधा रखी, उसमें महान परंपरा शास्त्रीय, लिखित और अभिजात्य मानी गई, और लघु परंपरा लोक, मौखिक और स्थानीय। पर सिंगर ने दिखाया कि दोनों के बीच निरंतर आदान-प्रदान चलता है। शास्त्र के विचार नीचे जाकर लोक-रूप धारण करते हैं, और लोक की चीज़ें ऊपर उठकर शास्त्र को प्रभावित करती हैं। प्रदर्शन इस आदान-प्रदान का सबसे सक्रिय स्थल है। रामलीला इसका उदाहरण है, जहाँ तुलसीदास का ग्रंथ 'रामचरितमानस' लोक-मंच पर उतरता है, और स्थानीय अभिनेता, स्थानीय भाषा और स्थानीय अनुष्ठान उसे नए अर्थ देते हैं।

3.2 पाठ्य-रूप बनाम प्रदर्शन-रूप: एकीकृत दृष्टि की ओर

पाठ्यक्रम का अगला बिंदु पाठ्य-रूप (टेक्स्चुएलिटी) और प्रदर्शन-रूप (परफ़ॉर्मेटिविटी) की अवधारणाओं को एक-दूसरे के विपरीत, यानी 'बाइनरी ऑपोज़िट्स', मानने के बजाय एकीकृत रूप में देखना है, यह मानते हुए कि लिखित पाठ और मौखिक या प्रदर्शनात्मक रूप एक-दूसरे के पूरक हैं। इस विचार को समझने के लिए पहले दोनों पदों की विशेषताएँ समझना उपयोगी है।

पक्ष	पाठ्य-रूप	प्रदर्शन-रूप
स्थिति	स्थिर, लिखा हुआ, बार-बार पढ़ा जा सकने वाला	क्षणिक, हर बार नया, अवसर-आधारित
माध्यम	लिपि, पांडुलिपि, पुस्तक	आवाज़, देह, वाद्य, वेशभूषा, स्थान
श्रोता से संबंध	दूर, एकांतिक पठन	प्रत्यक्ष, सामूहिक, अंतःक्रियात्मक
अधिकार का स्रोत	लेखक या ग्रंथ की प्रामाणिकता	प्रस्तुतकर्ता की परंपरा-निष्ठा और अवसर
परिवर्तन	संस्करणों में बदलाव	प्रत्येक प्रस्तुति में सूक्ष्म बदलाव
संरक्षण	पुस्तकालय, अभिलेखागार	समुदाय की स्मृति, गुरु-शिष्य परंपरा

यह तालिका इन दोनों को एक-दूसरे के विरोधी की तरह दिखाती है, और यही इसकी सीमा है। भारत के उदाहरण बताते हैं कि दोनों एक-दूसरे में समाए हुए हैं। पहला उदाहरण स्वयं नाट्यशास्त्र है। भरतमुनि का ग्रंथ मूलतः पाठ है, पर उसकी विषय-वस्तु प्रदर्शन के नियम हैं: उसके अनुसार नाट्य के चार आधार हैं, पाठ्य (पाठ), गीत, अभिनय और रस। यानी भारतीय परंपरा के सबसे प्रमुख सैद्धांतिक ग्रंथ में पाठ को प्रदर्शन का एक घटक माना गया है, उसका विकल्प नहीं।

दूसरा उदाहरण रामनगर की रामलीला है, जो तुलसीदास के 'रामचरितमानस' पर आधारित है। यहाँ पाठ और प्रदर्शन एक-दूसरे के ऊपर ऐसे चढ़े हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है। रामायणी, यानी पाठकर्ता, मानस का गायन करते हैं, और अभिनेता उसके अनुरूप दृश्य रचते हैं। पाठ प्रदर्शन को दिशा देता है, और प्रदर्शन पाठ को देह और स्थान देता है। तीसरा उदाहरण तमिल धनुष-गीत हैं, जिनका वर्णन अध्याय 2 में आया। वहाँ ताड़-पत्र की पांडुलिपि प्रस्तुति की प्रामाणिकता का आधार है, पर पांडुलिपि प्रस्तुति के बिना अर्थहीन है, क्योंकि गीत की शक्ति गाए जाने में है।

चौथा उदाहरण पाबूजी की फड़ है, जहाँ कपड़े पर चित्र, गाया जाने वाला पाठ और भोपा-भोपी का अभिनय एक साथ चलते हैं। यहाँ 'पाठ' का एक तीसरा रूप भी है, दृश्य पाठ। फड़ के चित्र स्वयं एक तरह की लिखावट हैं, जो गायक की स्मृति को क्रम देती हैं और श्रोताओं को कथा 'दिखाती' हैं। इस प्रकार मौखिक, दृश्य और लिखित रूप एक ही प्रदर्शन में साथ दिखते हैं।

एकीकृत दृष्टि का एक सैद्धांतिक आधार रिचर्ड शेक्नर का 'पुनर्स्थापित व्यवहार' का विचार है। शेक्नर, जिन्होंने रामनगर की रामलीला का सघन अध्ययन किया, तर्क देते हैं कि हर प्रदर्शन में कुछ ऐसे व्यवहार-खंड होते हैं जो पहले से अस्तित्व में थे, सीखे गए, रिहर्स किए गए और अब फिर से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इस दृष्टि से पाठ, परंपरा और प्रदर्शन एक अटूट धारा के अलग-अलग क्षण हैं। परंपरा का 'पाठ' प्रदर्शन में 'पुनर्स्थापित' होता है, और हर प्रदर्शन अगली पीढ़ी के लिए एक नया पाठ बन जाता है।

इस एकीकृत दृष्टि के तीन व्यावहारिक परिणाम हैं। पहला, किसी भी लोक-कला के अध्ययन में हमें दोनों स्रोत देखने चाहिए: लिखित सामग्री और जीवित प्रस्तुति। केवल एक के सहारे निष्कर्ष निकालना अधूरा होगा। दूसरा, संरक्षण की नीतियों में केवल पांडुलिपियाँ और रिकॉर्डिंग बचाना पर्याप्त नहीं, उन परिस्थितियों को भी बचाना होगा जिनमें प्रस्तुति संभव होती है। तीसरा, शिक्षा में लोक-कलाकारों को केवल 'सूचना-स्रोत' नहीं, ज्ञान के धारक के रूप में मानना होगा।

इस चर्चा में एक चेतावनी भी जोड़नी चाहिए। 'प्रदर्शन' शब्द को अधिक खींचने से यह भ्रम पैदा हो सकता है कि भारतीय समाज में पाठ का कोई महत्त्व नहीं। यह सच नहीं है। पाठ का सम्मान, यहाँ तक कि उसकी पूजा, भारतीय परंपरा में बहुत है: वेद-पाठ की सटीकता, ग्रंथ को आसन पर रखकर कथा-वाचन, पांडुलिपियों की पवित्रता। पर यह सम्मान प्रायः पाठ को प्रदर्शन में लाने से जुड़ा रहता है: ग्रंथ की शक्ति तब जागती है जब उसे पढ़ा, गाया या अभिनीत किया जाए। इसी संबंध को समझना इस इकाई का मुख्य लक्ष्य है।

3.3 भारतीय परंपरा के भीतर से प्रदर्शन की समझ: नाट्यशास्त्र

भारतीय प्रदर्शन-कलाओं को केवल पश्चिमी सिद्धांतों से समझना अधूरा होगा। भारत के पास अपनी एक सुविकसित प्रदर्शन-विषयक सैद्धांतिक परंपरा है, जिसका मूल भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। परंपरागत रूप से इसे भरत से जोड़ा जाता है, और इसके छत्तीस अध्याय बताए जाते हैं। यह ग्रंथ नाट्य-मंच, अभिनय, संगीत, वेशभूषा, पात्र-परिचय और दर्शक के अनुभव, यानी रस, पर विस्तार से विचार करता है। इसे नाटककार और अभिनेता दोनों के लिए मार्गदर्शक माना गया है।

चार अभिनय। नाट्यशास्त्र के अनुसार अभिनय, यानी रस की अभिव्यक्ति करने की क्रिया, चार प्रकार का है: आंगिक (शरीर और अंगों की गतियों से), वाचिक (वाणी और गीत से), आहार्य (वेशभूषा, साज-सज्जा और मंच-सामग्री से) और सात्त्विक (अंतःकरण की भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति से)। साथ ही 'नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' नामक दो प्रस्तुति-पद्धतियों का भेद है। नाट्यधर्मी पद्धति शैलीबद्ध, प्रतीकात्मक और परंपरागत संकेतों पर आधारित है। लोकधर्मी पद्धति रोज़मर्रा के यथार्थ के निकट है। जो यह मानते हैं कि लोक-कलाएँ 'अनगढ़' हैं, उन्हें यह देखना चाहिए कि लोक-प्रदर्शन में भी नाट्यधर्मी संकेत, यानी शैलीबद्ध मुद्राएँ, परंपरागत वेशभूषाएँ और नियमित गायन-ढाँचे, पूरी सुसंगति के साथ काम करते हैं।

अभिनय का प्रकार	शास्त्रीय अर्थ	इकाई 2 के संदर्भ में उदाहरण
आंगिक	शरीर और अंगों की गति	पाबूजी की फड़ के सामने भोपी का नृत्य; रासलीला की गोल नृत्य-संरचना; कठपुतली की डोरियों से अंगों की गति
वाचिक	वाणी, गीत, संवाद	चारण का डिंगल गायन; रामायणी का मानस-पाठ; भोपा का रावणहत्था-संगत गायन
आहार्य	वेशभूषा, श्रृंगार, मंच-सामग्री	रामनगर में स्वरूपों का मुकुट-वस्त्र; फड़ का चित्रित पट; कठपुतलियों की राजस्थानी पोशाक; चमड़े की रंगीन छाया-आकृतियाँ
सात्त्विक	आंतरिक भाव का सच्चा संचार	लीला में 'स्वरूप' को देवता मानकर दर्शन; दर्शकों के भाव-विह्वल होने की स्थितियाँ

यह तालिका केवल उपमा नहीं है। यह दिखाती है कि प्रदर्शन की भारतीय परिभाषा बहु-माध्यमी है: देह, वाणी, वस्तु और भाव, चारों मिलकर संदेश रचते हैं। इसलिए जब हम किसी लोक-कथावाचक की प्रस्तुति का मूल्यांकन करते हैं, तो केवल उसके 'शब्द' नहीं, उसके पूरे अभिनय-संसार को देखना चाहिए।

रस और दर्शक की भूमिका। नाट्यशास्त्र की सबसे गहरी देन रस-सिद्धांत है। इसके अनुसार नाटक का उद्देश्य दर्शक में एक विशिष्ट सौंदर्यानुभव, रस, जगाना है। यह अनुभव किसी वास्तविक घटना के प्रत्यक्ष अनुभव से भिन्न और अधिक शुद्ध माना गया है, क्योंकि उसमें वास्तविक जीवन की पीड़ा का मिश्रण नहीं होता। दर्शक यहाँ निष्क्रिय नहीं, सहृदय है, यानी वह भावनात्मक रूप से सहभागी है। इस सिद्धांत की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नाट्य का अर्थ मंच और दर्शक के बीच घटित होता है, केवल मंच पर नहीं। यह दृष्टि इकाई 2 की सभी विधाओं पर लागू होती है। रामनगर के दर्शक केवल देखते नहीं, 'दर्शन' करते हैं। धनुष-गीत के श्रोता केवल सुनते नहीं, आविष्ट होकर देवता के वाहक बन जाते हैं। पाबूजी की फड़ के श्रोता केवल कथा नहीं सुनते, रोग-निवारण की आशा में भी बैठे होते हैं।

शास्त्रीय और लोक का संबंध। यहाँ एक सावधानी ज़रूरी है। नाट्यशास्त्र को 'शास्त्रीय' मानकर लोक-प्रदर्शनों को उसकी 'विकृत' या 'निचली' प्रतिलिपि मान लेना भूल होगी। सिंगर की भाषा में कहें तो महान और लघु परंपराएँ एक-दूसरे को पोषण देती हैं। लोक-रंगमंच के कई तत्व शास्त्रीय रंगमंच में पहुँचे, और शास्त्रीय नियमों के कई अंश लोक-रंगमंच में परिवर्तित होकर चले। लीला, यानी 'क्रीड़ा' या 'ईश्वरीय खेल' की अवधारणा, इस दृष्टि से विशेष रूप से रोचक है, जिसे हम अब देखेंगे।

3.4 संचार माध्यम के रूप में प्रदर्शन

पाठ्यक्रम का यह कथन कि प्रदर्शन-कलाएँ केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि ज्ञान हस्तांतरण, सामाजिक चेतना और धार्मिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हैं, संचार-अध्ययन के नज़रिए से भी देखा जा सकता है। संचार के दो प्रमुख मॉडल प्रचलित हैं। जेम्स कैरी ने इन्हें 'संचरण-दृष्टि' और 'अनुष्ठान-दृष्टि' कहा। संचरण-दृष्टि में संचार का अर्थ संदेश को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाना है, और सफलता इस पर निर्भर है कि संदेश कितनी दूर और कितना सटीक

पहुँचा। अनुष्ठान-दृष्टि में संचार का अर्थ साझा विश्वासों का निर्माण, उनका अनुरक्षण और उनमें साझेदारी है, और सफलता इस पर निर्भर है कि समुदाय कितना साथ बँधा। भारतीय प्रदर्शन-कलाएँ दोनों मॉडल में आती हैं, पर उनकी असली ताक़त अनुष्ठान-दृष्टि में है।

(क) ज्ञान का हस्तांतरण। पहला कार्य ज्ञान और स्मृति का संरक्षण तथा हस्तांतरण है। भाट और चारण इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण हैं। अलेक्ज़ेंड्रा तुरेक के अनुसार चारणों ने राजपूत शासक वर्ग के वंशानुगत कवियों के रूप में राजपूत लोकाचार गढ़ने, ऐतिहासिक स्मृति बनाए रखने और वीर-काव्य की अनूठी परंपरा रचने में केंद्रीय भूमिका निभाई। उनकी डिंगल गीत-परंपरा इतिहास-लेखन, प्रदर्शन और मौखिक परंपरा का मिश्रण है। सोलहवीं शताब्दी के बाद राजपूत 'महान परंपरा' के विस्तार के साथ वंशावली वैधता का आधार बन गई, इसलिए वंशावली-वाचक भाट और चारण राजनीतिक रूप से भी महत्त्वपूर्ण हो गए।

यहाँ एक रोचक विरोधाभास दिखता है। थार क्षेत्र की राजपूत लिखित परंपराएँ राजपूत वीरता को केंद्र में रखती हैं और दूसरे समूहों के दावे लगभग अनदेखे कर देती हैं। इसके विपरीत थार की मौखिक लोक-परंपराएँ, लोक-देवताओं की गाथाओं से विरह-गीतों तक, ऐसे आख्यान सँभाले हुए हैं जो लिखित परंपराओं में लुप्त हैं। इस क्षेत्र में पशुचारी और व्यापारिक आवागमन के जाल ही मौखिक परंपराओं के संचार-पथ थे। जो समूह लगातार चलते रहते थे, वे अपना इतिहास भाटों, भोपों, मिरासियों, मंगणियारों, लंगाओं, नायकों और अन्य गायकों के माध्यम से सुरक्षित रखते थे। जैनेट कैंफ़ोर्स्ट के अध्ययन 'मृत्यु की प्रशंसा में' के अनुसार मारवाड़ की वीर-काव्य परंपरा यह भी दर्शाती है कि राजपूत सत्ता की स्थापना के बाद भी भील और चारण जैसे ग़ैर-राजपूत समूह अपनी स्वायत्तता के दावे इन्हीं गाथाओं के माध्यम से व्यक्त करते रहे। इसका अर्थ है कि मौखिक संचार केवल सत्ता का समर्थन नहीं करता, वह सत्ता के सामने अपनी स्मृति भी खड़ी करता है।

(ख) सामाजिक चेतना। दूसरा कार्य सामाजिक चेतना जगाना और सामाजिक आलोचना को स्वर देना है। एलिज़ाबेथ विकेट के अनुसार पाबूजी की फड़ का प्रदर्शन वंचितों द्वारा सामाजिक आलोचना का वाहन भी बन गया है, और उसमें भोपी के स्त्री-स्वर की भूमिका निर्णायक है। राजस्थानी कठपुतली-परंपरा में भी यही बात है। परंपरागत रूप से कठपुतली-प्रदर्शन अमर सिंह राठौड़ जैसे राजपूत नायक की कथा को केंद्र में रखता था, जिसे नट-भाट समुदाय घर-घर, मोहल्ले-मोहल्ले में सुनाता था। परंपरागत प्रदर्शन में कठपुतलियों का पूरा संग्रह बावन आकृतियों का माना जाता था, और उससे कम को अधूरा माना जाता था। आज कुछ कठपुतली-कलाकार, जैसे पूरन भट्ट द्वारा 1980 के दशक में स्थापित आकार पपेट थिएटर, सामाजिक-विषयक प्रस्तुतियाँ भी तैयार करते हैं, यानी इस परंपरागत माध्यम को सामाजिक संदेश के लिए नए रूप में इस्तेमाल करते हैं। भारत सरकार के पर्यटन संसाधन भी कठपुतली को मनोरंजन के साथ नैतिक और सामाजिक शिक्षा का माध्यम बताते हैं।

इससे यह भी समझ आता है कि 'सामाजिक चेतना' का अर्थ केवल उपदेश नहीं। कठपुतली के माध्यम से जो बात किसी मनुष्य के मुँह से कहना खतरनाक हो सकता है, वह काठ की गुड़िया के मुँह से कही जा सकती है। संभवतः पुतली के व्यंग्य और विनोद को हल्के में लिया जाता है, इसलिए वह सत्ता और समाज पर कटाक्ष कर पाती है। यह विश्लेषणात्मक अनुमान है, किसी स्रोत का निष्कर्ष नहीं। यही लोक-संचार की चतुराई है: मनोरंजन के आवरण में असुविधाजनक सत्य को कहना।

(ग) धार्मिक अभिव्यक्ति। तीसरा कार्य धार्मिक अनुभव और भक्ति की अभिव्यक्ति है। रासलीला और रामलीला जैसे 'दिव्य-लीला' रूपों में प्रदर्शन स्वयं पूजा है। 'रास' का अर्थ रस, भाव या आनंद है और 'लीला' का अर्थ खेल, क्रीड़ा या दिव्य क्रीड़ा। साथ मिलकर रासलीला को 'दिव्य प्रेम का नृत्य' कहा जाता है। यह परंपरा मुख्य रूप से ब्रज क्षेत्र, मथुरा और वृंदावन, से जुड़ी है। इसका संस्थागत प्रदर्शन-रूप पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में स्वामी श्रीउद्धवघमंड देवाचार्य द्वारा वृंदावन में वंशीवट पर आरंभ किए जाने की परंपरा है। इसमें प्रायः बाल-कलाकार कृष्ण और राधा की भूमिकाएँ निभाते हैं, जिन्हें श्रद्धालु उस समय देवता का जीवित 'स्वरूप' मानते हैं।

जॉन स्ट्रैटन हॉवली ने वृंदावन की रासलीलाओं पर लिखा कि हर प्रस्तुति एक 'नाटक के भीतर नाटक' है: दर्शक और कलाकार दोनों दिव्य क्रीड़ा के हिस्से बन जाते हैं, और माया तथा वास्तविकता, मानव और ईश्वर, प्रस्तुतकर्ता और भक्त के बीच की रेखा धुँधली हो जाती है। नॉर्विन हाइन ने 'मथुरा के चमत्कार-नाटक' में इस परंपरा के इतिहास को दर्ज किया। इन अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दिव्य-लीला में संचार का अर्थ सूचना देना नहीं, भक्त को देवता के साथ उपस्थित कराना है।

संचार का कार्य	संचरण की दृष्टि से अर्थ	अनुष्ठान की दृष्टि से अर्थ	उदाहरण
ज्ञान हस्तांतरण	इतिहास, वंशावली और नीति की सूचना देना	साझा स्मृति और पहचान को जीवित रखना	चारण-भाट वाचन, कठपुतली का ऐतिहासिक आख्यान
सामाजिक चेतना	अन्याय या नए विचार की जानकारी फैलाना	समुदाय में नैतिक सहमति और असहमति रचना	पाबूजी की फड़ में स्त्री-स्वर, सामाजिक विषयों की कठपुतली-प्रस्तुतियाँ
धार्मिक अभिव्यक्ति	धर्म-कथा सुनाना	देवता की उपस्थिति का अनुभव और समुदाय का शुद्धिकरण	रामलीला, रासलीला, धनुष-गीतों का उत्सव

प्रदर्शन के संचार-गुण और सीमाएँ। प्रदर्शन के संचार के कुछ विशेष गुण हैं। पहला, वह बहु-इंद्रिय है: देखना, सुनना, गंध, स्पर्श और मौसम तक अनुभव का हिस्सा हैं। दूसरा, वह प्रत्यक्ष और द्विपक्षीय है: प्रस्तुतकर्ता दर्शक की प्रतिक्रिया के अनुरूप अपनी प्रस्तुति बदलता है। तीसरा, वह स्थानीय भाषा, प्रतीकों और स्मृतियों में रचा होता है, इसलिए समुदाय के भीतर अत्यंत प्रभावशाली होता है। चौथा, वह साक्षरता पर निर्भर नहीं करता, इसलिए पूरे समाज तक पहुँचता है, बच्चों और अनपढ़ों तक भी।

पर सीमाएँ भी हैं। मौखिक संचार का दायरा आम तौर पर स्थानीय और समयबद्ध होता है। इसमें प्रस्तुतकर्ता की सामाजिक स्थिति का असर होता है: कौन बोल सकता है और कौन नहीं, यह जाति और लिंग के नियमों से तय होता है। साथ ही आर्थिक संरक्षण पर निर्भरता इसे असुरक्षित बनाती है। राजस्थान की कठपुतली पर अध्ययनों में दर्ज है कि कलाकारों ने प्रस्तुति की अवधि घटा दी, पारंपरिक कथानक छोड़ दिए, और कुछ ने स्मृति-चिह्न के रूप में

कठपुतलियाँ बनाकर बेचने का रास्ता चुना। जब संचार के पुराने मंच कमज़ोर पड़ते हैं, तब उनकी 'भाषा' भी बदलती है।

3.5 इकाई II के तीन प्रदर्शन-रूप: एक झलक

इकाई II का शीर्षक तीन प्रदर्शन-रूपों को नाम देता है: दिव्य-लीला, भाट और चारण का कथा-वाचन, और कठपुतली कला। अगले अध्याय में हम इनके कुछ ठोस पाठ पढ़ेंगे, पर उससे पहले इनकी संचार-विशेषताएँ क्रम से समझ लेना उपयोगी है।

दिव्य-लीला: स्थान, समय और सहभागिता। लीला का आशय केवल नाटक नहीं, ईश्वर की क्रीड़ा है। रामलीला और रासलीला दोनों में दर्शक का स्थान असाधारण है। रामलीला के अध्ययन में प्रायः दो भेद किए जाते हैं: अचल रामलीला, जो एक निश्चित स्थान पर होती है, और सचल रामलीला, जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलती हुई प्रस्तुति है। रामनगर की रामलीला इन दोनों के बीच की एक विशिष्ट कड़ी है, क्योंकि वहाँ पूरा नगर प्रदर्शन-स्थल बन जाता है और दृश्य बदलने के साथ दर्शक भी एक स्थल से दूसरे स्थल पर चलते हैं। राजस्थान के बिस्साऊ में 'मूक रामलीला' जैसी रूप-परंपराएँ भी हैं, जहाँ प्रदर्शन का पूरा संचार संवाद के बिना, केवल मुद्रा और गति से होता है। अयोध्या, वृंदावन, अल्मोड़ा, सतना और मधुबनी जैसे स्थान भी प्रसिद्ध रामलीला-केंद्र बताए गए हैं। 2008 में यूनेस्को ने रामलीला को मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर की सूची में स्थान दिया।

लीला की सबसे विशिष्ट बात 'स्वरूप' की अवधारणा है। रामलीला और रासलीला दोनों में, विशेषकर बाल-कलाकारों को, श्रद्धालु उस काल में देवता का जीवित रूप मानते हैं। हॉवली और हाइन के अध्ययनों के अनुसार, वृंदावन की रासलीला में कृष्ण और राधा की भूमिका निभाने वाले बाल-कलाकारों को वैष्णव भक्त दिव्य जोड़ी के जीवित रूप के रूप में विशेष सम्मान देते हैं। इसका अर्थ है कि दर्शक और कलाकार का संबंध 'देखने वाले और दिखाने वाले' का नहीं, 'दर्शन करने वाले और दर्शन देने वाले' का है। इसी कारण शेक्नर ने रामनगर के संदर्भ में लिखा कि यहाँ कलाकार और दर्शक मिलकर एक अनुष्ठान रचते हैं। रामनगर में मंच की अनुपस्थिति, कृत्रिम प्रकाश या ध्वनि-उपकरणों का अभाव और पूरे नगर में बिखरे पवित्र स्थल, ये सब मिलकर इस अनुभव को रचते हैं। अध्याय 4 में इसे विस्तार से देखेंगे।

भाट और चारण: वाचिक स्मृति के संरक्षक। भाट और चारण राजस्थान की प्रदर्शन-परंपरा के सबसे प्राचीन वाहकों में हैं। 'भाट' शब्द को अध्येता लगभग 'चारण-कवि' के पर्याय के रूप में भी इस्तेमाल करते हैं, यद्यपि दोनों समुदायों की सामाजिक स्थिति, पहचान और परंपरा अलग-अलग है। भाट मुख्यतः राजस्थान से आने वाले वंशावली-वाचक और मिथक-वाचक हैं। 'चारण' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में मत मिलते हैं: कुछ इसे राजस्थानी 'चरणौ' (चरना या घूमना), 'उच्चारण' (वाचन की कला) या 'चाहड़' (प्रेम, न्याय) से जोड़ते हैं। ये तीनों सुझाव, घुमंतू जीवन, वाचन-कला और न्याय-प्रेम, चारण-परंपरा की विशेषताओं को समेटते हैं। गुजरात के कच्छ और सौराष्ट्र में चारण समुदाय की उपस्थिति इस घुमंतू इतिहास का प्रमाण है, और राजस्थान के देशनोक में चारणों की कुल-देवी करणी माता का मंदिर उनकी धार्मिक पहचान का प्रतीक है।

भाट-चारण परंपरा का महत्त्व इस बात में है कि वह इतिहास, कविता और प्रदर्शन को एक करती है। चारण-काव्य सुनाया जाता है, गाया जाता है, याद किया जाता है और कई बार लिखा भी जाता है। कैंफ़ोर्स्ट के अध्ययन की

झलकियों में यह भी दर्ज है कि चारण 'पाबूजी रा दूहा' जैसी रचनाएँ सुनाते हैं, यानी एक ही नायक की कथा चारणों के दोहों में और भोपों की फड़ में अलग-अलग रूप में जीवित रहती है। इससे यह समझ में आता है कि पाबूजी-परंपरा अनेक मौखिक समुदायों की साझा संपत्ति है।

आधुनिक काल में इन परंपराओं की स्थिति में फ़र्क आया है। एक विवरण के अनुसार आज राजस्थान में भाट प्रायः निचली जाति के चारण-कवि माने जाते हैं और मुख्यतः मनोरंजन से जीविका कमाते हैं, जबकि आधुनिक चारण-कवि संगीतकार, कठपुतली-कलाकार, वंशावली-वाचक, धार्मिक शिक्षक और कृषक के रूप में भी काम करते हैं। भाट-परंपरा की इस विविधता का अर्थ है कि वही समुदाय राजदरबार से लेकर गाँव के चौक तक अलग-अलग भूमिकाओं में दिखता है, और इन भूमिकाओं में संचार के रूप और श्रोता भी बदलते हैं।

कठपुतली: काठ की देह में जीवित कथा। राजस्थान की 'कठपुतली', जिसका शाब्दिक अर्थ 'काठ की पुतली' है, डोरी से चलने वाली पुतलियों की विशिष्ट परंपरा है। इसे प्रायः नट-भाट समुदाय के लोग प्रस्तुत करते हैं। मान्यता है कि यह परंपरा नागौर से जुड़ी है, और नागौर के सत्रहवीं शताब्दी के शासक अमर सिंह राठौड़ इसके प्रमुख संरक्षक और कथा-नायक रहे। अमर सिंह की कथा राजपूत वीरता और मुग़ल दरबार के षड्यंत्रों की कथा है, और भाट समुदाय ने इसे पीढ़ियों तक कंठस्थ रखा।

कठपुतली-प्रदर्शन की तकनीक में संचार के कई तत्व गुँथे हैं। दो चारपाइयों को खड़ा करके उनके बीच बाँस बाँधा जाता है, जिससे पर्दा बनता है और कलाकारों का शरीर छिप जाता है। पुतली आमतौर पर एक ही डोरी से संचालित होती है, जिसका एक सिरा सिर से और दूसरा पीठ से जुड़ा होता है। अधिकतर पुतलियों के पाँव नहीं होते, और लंबे घाघरे से निचला हिस्सा ढक जाता है। पुरुष पुतलियाँ चलाते हैं, जबकि स्त्रियाँ ढोलक जैसे वाद्य बजाकर संगीत देती हैं। कथा सुनाने वाला सूत्रधार काव्य-पाठ करता है, और पुतलीवाले एक विशेष 'बोली' या स्वर-परिवर्तक यंत्र से आवाज़ बदलकर पात्रों को स्वर देते हैं। इस तरह पूरा परिवार, पुरुष, स्त्री और बच्चे, प्रदर्शन के अंग हैं। प्रस्तुति छोटे समूह के सामने, उनके बीच, पुतलियों की आँखों के स्तर पर होती है। यही निकटता इसे अंतरंग बनाती है।

कठपुतली की एक और विशेषता 'चाल वाली' या करतब वाली पुतलियाँ हैं: ढोल-वादक, मदारी, घुड़सवार, सँपेरा और दो मुखों वाला मुखौटे-निर्माता। कुछ अध्ययनों के अनुसार कई बार अमर सिंह की कथा के दौरान दरबार में करतब दिखाने वाली पुतलियों का प्रदर्शन कथा से भी लंबा हो जाता है। आज स्थिति यह है कि अमर सिंह की कथा पृष्ठभूमि में चली जाती है और राज-दरबार के मनोरंजन के लिए बने करतब केंद्र में आ गए हैं। यह परिवर्तन बताता है कि जब श्रोता बदलते हैं, तो संचार की प्राथमिकताएँ भी बदल जाती हैं: इतिहास का संचार मनोरंजन के सामने पीछे हटता है।

3.6 प्रदर्शन के विश्लेषण की एक रूपरेखा

इकाई II के पाठ पढ़ते समय विद्यार्थी किसी भी प्रदर्शन को परखने के लिए नीचे दी गई प्रश्न-तालिका का उपयोग कर सकते हैं। यह रूपरेखा संस्कृति को पाठ और प्रदर्शन के एकीकृत रूप में समझने की दृष्टि से बनाई गई है।

आयाम	पूछने के प्रश्न
प्रस्तुतकर्ता	कौन प्रस्तुत करता है? किस जाति, समुदाय या वंश से? प्रशिक्षण कैसे मिलता है?
श्रोता	कौन देखता-सुनता है? क्या वे सहभागी हैं? उनका सामाजिक स्थान क्या है?
स्थान और समय	प्रस्तुति कहाँ और कब होती है? क्या स्थान पवित्र माना जाता है? ऋतु या त्योहार से क्या संबंध है?
माध्यम	देह, वाणी, वाद्य, चित्र, कठपुतली या वस्त्र में से क्या प्रयोग होता है?
पाठ का स्रोत	कथा किस पाठ या स्मृति पर आधारित है? लिखित स्रोत की क्या भूमिका है?
उद्देश्य	प्रस्तुति का उद्देश्य मनोरंजन, शिक्षा, अनुष्ठान, उपचार या सामाजिक संदेश में से क्या है?
आर्थिक और सामाजिक आधार	प्रस्तुतकर्ता की आजीविका कैसे चलती है? संरक्षण कौन देता है?
परिवर्तन	समय के साथ प्रस्तुति में क्या बदला है? कौन-से नए माध्यम या विषय जुड़े हैं?

इन आठ आयामों के सहारे हम तीनों प्रदर्शन-रूपों की तुलना कर सकते हैं। दिव्य-लीला में प्रस्तुतकर्ता प्रायः समुदाय के चुने हुए सदस्य होते हैं, दर्शक सहभागी भक्त हैं, स्थान पवित्र है, और उद्देश्य अनुष्ठान तथा भक्ति है। भाट-चारण परंपरा में प्रस्तुतकर्ता वंशानुगत वर्ग है, श्रोता संरक्षक और समुदाय हैं, माध्यम गायन और वाचन है, और उद्देश्य स्मृति और प्रतिष्ठा है। कठपुतली में प्रस्तुतकर्ता परिवार-आधारित घुमंतू समुदाय हैं, श्रोता मोहल्ले के लोग हैं, माध्यम काठ और डोरी है, और उद्देश्य मनोरंजन तथा कथा-संरक्षण का मिला-जुला रूप है।

3.7 निष्कर्ष

इस अध्याय से तीन निष्कर्ष निकलते हैं। पहला, संस्कृति का संचरण पाठ और प्रदर्शन के बीच एक सतत प्रक्रिया है। भारतीय परंपरा के भीतर से देखें तो पाठ प्रदर्शन के नियम तय करता है, और प्रदर्शन पाठ को जीवन देता है। दूसरा, नाट्यशास्त्र जैसे ग्रंथ हमें प्रदर्शन के विश्लेषण के लिए देसी औज़ार देते हैं, जैसे अभिनय के चार भेद, रस और सहृदय दर्शक की धारणा, जो लोक-परंपराओं पर भी लागू होते हैं। तीसरा, प्रदर्शन-कलाएँ ज्ञान, सामाजिक चेतना और

धार्मिक अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, और इन तीनों कार्यों के बीच की रेखाएँ भी तरल हैं: एक ही प्रस्तुति में इतिहास, आलोचना और भक्ति साथ चल सकते हैं।

अगले अध्याय में हम चार ठोस उदाहरणों, रामनगर की रामलीला, गरोडा के चित्रित पट, पाबूजी की फड़ और आंध्र प्रदेश की छाया-कठपुतली, के माध्यम से इन अवधारणाओं को परखेंगे।

3.8 संदर्भ ग्रंथ

- Cultural performance, social drama and liminality, साइमन शेपर्ड
- Milton Singer, Traditional India: Structure and Change
- Milton Singer, When a Great Tradition Modernizes
- Natyashastra, MAP Academy
- Natyashastra: चार अभिनय और नाट्यधर्मी-लोकधर्मी
- Between Theater and Anthropology, रिचर्ड शेक्नर
- Bhāts, विकिपीडिया
- The Bardic Tradition in Hinduism
- In Praise of Death, जैनेट कैंफ़ोर्स्ट
- Thar region: bards and oral traditions, कैम्ब्रिज
- Kathputli puppetry
- Hands of Life: Rajasthan's craft of puppetry, Outlook
- Kathputlis of Rajasthan, Incredible India
- Kathputli: The World of Rajasthani Puppeteers
- Raslila, विकिपीडिया
- Every Play a Play within a Play, जॉन स्ट्रैटन हॉवली
- नॉर्विन हाइन और रासलीला, The Wire

अध्याय 4

भारतीय लोक प्रदर्शन कलाओं के विविध आयाम

यह अध्याय इकाई II के चार आवश्यक पाठों को सिलसिलेवार पढ़ता है: रामनगर की रामलीला, गुजरात के गरोडा समुदाय के चित्रित पट, राजस्थान की पाबूजी की फड़ और आंध्र प्रदेश का तोलू बोम्मालता। चारों में एक साझा सूत्र है: कथा केवल कही नहीं जाती, किसी स्थान, किसी वस्तु या किसी आकृति में बसाई जाती है। रामनगर में नगर पूरा मंच है, गरोडा में पट चलता-फिरता मंदिर है, पाबूजी की फड़ में कपड़ा देवता का निवास है, और तोलू बोम्मालता में चमड़े की आकृतियाँ प्रकाश और छाया के सहारे महाकाव्य को जीवित करती हैं।

एक स्पष्टीकरण ज़रूरी है। पाठ्यक्रम में दिए गए चारों मूल निबंध, वर्षा रानी, ज्योतिंद्र जैन, एलिज़ाबेथ विकेट और एम. नागभूषण शर्मा के, इस शोध में पूरे पाठ के रूप में सभी नहीं खुल सके। विकेट का अध्ययन 'पाबूजी की पड़ का महाकाव्य, प्रदर्शन में' (2010) और ज्योतिंद्र जैन का 'भारतीय चित्र-कथावाचकों की कला' शीर्षक लेख पूरे पाठ में उपलब्ध रहे। रामनगर के लिए बलवंत गार्गी के विवरण और शेक्नर के अध्ययन का सहारा लिया गया है, और तोलू बोम्मालता के लिए नागभूषण शर्मा के लेखों के उपलब्ध अंशों और अन्य स्रोतों का। इसलिए जहाँ बात किसी विशेष निबंध के तर्क की है, उसे संबंधित स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, और विद्यार्थी मूल निबंधों से मिलान करें।

4.1 रामनगर की रामलीला

परिचय और इतिहास। रामलीला का शाब्दिक अर्थ 'राम का खेल' है। यह रामायण-कथा का वह प्रदर्शन है जिसमें गीत, कथन, पाठ और संवाद शामिल हैं और जो मुख्यतः तुलसीदास के 'रामचरितमानस' पर आधारित है। दशहरे के आसपास, सितंबर-अक्टूबर में, उत्तर भारत में हज़ारों स्थानों पर रामलीलाएँ होती हैं, और इनकी अवधि सामान्यतः दस से बत्तीस दिन होती है। इनमें रामनगर की रामलीला सबसे बड़ी और सबसे विशिष्ट मानी जाती है। यह वाराणसी से गंगा के पार रामनगर में होती है और अलग-अलग विवरणों में तीस या इकतीस दिन के चक्र की बताई जाती है। इसे काशी-नरेश के संरक्षण का आधार मिला हुआ है।

बलवंत गार्गी के विवरण के अनुसार रामनगर की इस रामलीला का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी में महाराजा उदित नारायण सिंह ने किया। कथा यह है कि भक्त महाराजा हर वर्ष बनारस की रामलीला देखने जाते थे। एक बार उनके पुत्र, युवराज ईश्वरी नारायण सिंह, इतने बीमार हुए कि बचने की आशा नहीं रही। उसी शाम रामलीला में आयोजन के आध्यात्मिक प्रमुख ने राम द्वारा पहनी माला महाराजा को दी और उसे बीमार राजकुमार को पहनाने को कहा। राजकुमार स्वस्थ हो गए। इसके बाद महाराजा रामलीला और तुलसीदास के परम भक्त बन गए। उन्होंने रामायण को आम आदमी तक पहुँचाने के दो तरीके चुने: उसका भव्य लीला-रूप में मंचन और 'रामचरितमानस' का पाँच खंडों में विशाल सचित्र संस्करण, जिसके चित्र राजस्थान के प्रसिद्ध चित्रकारों ने राजपूत शैली में बनाए। उनके पुत्र ईश्वरी नारायण सिंह ने मंचन को परिष्कृत किया, विद्वानों से मानस की टीका लिखवाई और पाठ तथा अभिनय की परंपरा के शिष्य तैयार किए। वे पहले 'व्यास' भी बने।

परंपरागत व्यवस्था में प्रशासनिक ढाँचा भी था। गार्गी के अनुसार स्वतंत्रता से पहले रामनगर रियासत में रामलीला विभाग था, जिसमें महासचिव और उप-सचिव होते थे। रियासत के विलय की शर्तों में यह प्रावधान था कि उत्तर प्रदेश

सरकार हर वर्ष रामलीला के लिए एक लाख रुपये रखेगी। इसके अतिरिक्त महाराजा अपनी निजी संपत्ति से भी बड़ी रकम खर्च करते थे, और शाही हथियारखाना, हाथी और दरबारी रामलीला की सेवा में लगाए जाते थे। यह स्थिति बताती है कि लोक-प्रदर्शन का यह रूप राजकीय संरक्षण में विकसित हुआ, पर उसका समुदाय से जुड़ाव अत्यंत गहरा था।

स्थानिक आयाम: पूरा नगर मंच। पाठ्यक्रम इस प्रदर्शन के 'स्थानिक आयाम' पर विशेष बल देता है। रामनगर में कोई एक मंच नहीं है। लगभग तीन वर्ग मील के त्रिकोणीय क्षेत्र में रामायण के स्थानों के नाम पर बने पवित्र स्थल, बाग और मंदिर हैं: अयोध्या, जनकपुरी, चित्रकूट, पम्पासर, किष्किंधा, पंचवटी और लंका। गार्गी के अनुसार ये स्थल केवल रामलीला के लिए आरक्षित हैं और साल भर सुरक्षित रखे जाते हैं। लीला के दिन के अनुसार दर्शक एक स्थल से दूसरे स्थल तक जाते हैं। इस तरह नगर का वास्तविक भूगोल रामायण के पौराणिक भूगोल में बदल जाता है। सीता-विवाह जनकपुरी में, नदी-पार का दृश्य एक छोटी धारा के किनारे, क्षीर-सागर विशाल जलाशय में, और लंका-दहन बड़े मैदान में होता है। जनकपुरी के विवाह-दृश्य में लगभग दस हज़ार दर्शक आते हैं और लंका-दहन में बीस हज़ार से अधिक। शिव-धनुष टूटने के क्षण का समय तोप के छूटने से मिलाया जाता है, जिसकी गर्जना कई मील तक सुनी जाती है। गार्गी ने इसे इस विश्वास का परिणाम बताया कि जो कुछ उपस्थित है, वह किसी आध्यात्मिक सत्य का अवतार है, जिसे भौतिक रूप में प्रकट होना ही चाहिए।

पवित्र स्थान की रचना केवल भूगोल से नहीं होती, छोटे अनुष्ठानों से भी होती है। भारतीय कला-संसाधन के एक विवरण में बताया गया है कि लीला स्थल पर पहुँचने के लिए श्रद्धालु गंगा पार करते हैं। प्रवेश पर दर्शकों के माथे पर चंदन लगाया जाता है और जूते उतारकर बैठक में स्थान ग्रहण किया जाता है। ये सरल क्रियाएँ दैनिक जीवन के साधारण स्थान और लीला के पवित्र स्थान के बीच की रेखा खींच देती हैं। इस तरह दर्शक प्रदर्शन में प्रवेश करने से पहले ही एक आंतरिक संक्रमण से गुज़रता है।

दर्शक-कलाकार संबंध: अनुष्ठानिक पवित्र स्थान। रामनगर में दर्शक केवल देखने नहीं आते। लीला प्रतिदिन शाम पाँच बजे के आसपास आरंभ होकर नौ बजे तक चलती है, बीच में सूर्यास्त के समय आधे घंटे का अंतराल रहता है। दर्शक अर्धवृत्त में ज़मीन पर बैठते हैं। गार्गी के अनुसार पाँच हज़ार दर्शक हों तब भी माइक्रोफ़ोन का प्रयोग नहीं होता। हाथियों की एक पंक्ति दर्शकों के अर्धवृत्त को घेरती है और काशी-नरेश अपने विशेष हौदे वाले हाथी पर बैठते हैं। गायकों की मंडली पास बैठती है और सब लोग पदों को जानते हैं। गार्गी का एक निरीक्षण विशेष रूप से उल्लेखनीय है: जब दर्शक पंक्तियाँ ठीक से सुन या अभिनेता को ठीक से देख नहीं पाते, तब भी वे लीला 'देखते' हैं, क्योंकि वह उनके मन में घटित हो रही होती है। कुछ भक्त आँखें बंद करके बैठे रहते हैं और इसी तरह 'देखते' हैं।

इस अनुष्ठानिक स्वरूप का केंद्र 'स्वरूप' हैं, यानी राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीता की भूमिका निभाने वाले किशोर। हनुमान, रावण और जटायु जैसे पात्र वर्षों तक एक ही कलाकार निभाते हैं, जबकि राम, सीता और तीनों भाई हर तीसरे वर्ष बदले जाते हैं। गार्गी लिखते हैं कि एक पुराना हनुमान-मुखौटा सौ वर्ष पुराना है और उसे पहनने वाला अभिनेता चालीस वर्ष से यह भूमिका निभा रहा है। स्वरूपों को व्यास लगभग दो महीने अभ्यास कराता है, पर तीस दिन की पूरी कथा बालक कंठस्थ नहीं कर सकते, इसलिए व्यास सबके सामने उन्हें प्रॉम्प्ट करता रहता है। राम के अभिनय में भाव-प्रदर्शन या हलचल नहीं होती, वह निर्लिप्त रहता है, मानो राजतिलक के क्षण में बैठा राजकुमार हो।

जब किसी ने फ़ोटो के लिए राम से मुकुट उतारने को कहा, तो मुख्य पुजारी ने डाँटा: 'यह नाटक नहीं, आस्था का कार्य है। एक बार राम ने मुकुट पहन लिया, तो कोई उसे उतार नहीं सकता। वे ईश्वर हैं।'

महाराजा विभूति नारायण सिंह से जब पूछा गया कि राम की भूमिका सदा बालक क्यों निभाता है, तो उनका उत्तर था कि रामलीला नाटक नहीं, यज्ञ है। उसका उद्देश्य देवताओं को प्रसन्न करना है ताकि रामनगर के लोग शांति और समृद्धि से रहें। बारह वर्ष का बालक शुद्ध होता है और देवता केवल शुद्ध देह में प्रवेश कर सकता है। यह कथन पाठ्यक्रम की इस बात को स्पष्ट करता है कि दर्शक और कलाकार एक अनुष्ठानिक पवित्र स्थान का निर्माण करते हैं।

लीला के अंतिम दिन का दृश्य इसकी सामाजिक संरचना भी दिखाता है। राम, लक्ष्मण और सीता महाराजा के महल के आँगन में आते हैं। सब दर्शक वर्ग और स्थिति के अनुसार बैठे होते हैं। महाराजा किसान की तरह घुटनों तक चढ़ी सफ़ेद धोती पहने स्वरूपों का स्वागत करते हैं, उन्हें सिंहासन तक ले जाते हैं, और ज़मीन पर उकड़ूँ बैठकर पुजारी की सहायता से उनकी पूजा करते हैं। यहाँ राजा भक्त बन जाता है, और बालक देवता। इस उलटाव में सत्ता का रूपांतरण दिखता है: प्रदर्शन के भीतर राजा अपने से ऊपर एक सत्ता को स्वीकार करता है।

विशेषता	रामनगर की रामलीला में स्वरूप
स्थान	लगभग तीन वर्ग मील में रामायण-स्थलों के नाम के आरक्षित स्थल; पूरा नगर रंगमंच
अवधि	लगभग तीस दिन; दैनिक लीला सायं पाँच से रात नौ बजे तक
पाठ	तुलसीदास का 'रामचरितमानस'; रामायणी गायक-मंडली और व्यास
कलाकार	किशोर स्वरूप (राम, सीता और भाई) हर तीसरे वर्ष बदलते हैं; हनुमान, रावण आदि वर्षों तक एक ही कलाकार
तकनीक	माइक्रोफ़ोन नहीं; प्राकृतिक प्रकाश, मशालें और आरती के लिए मैग्नीशियम की ज्वाला
संरक्षण	काशी-नरेश; ऐतिहासिक रूप से राज्य-व्यवस्था और सरकारी अनुदान
दर्शक का स्थान	सहभागी भक्त; अर्धवृत्त में बैठना; दर्शन और आरती में भाग

विश्लेषण: रामनगर क्या दिखाता है। रिचर्ड शेक्नर और लिंडा हेस ने 1977 में रामनगर की रामलीला पर प्रकाशित लेख में इसे ऐसा 'पर्यावरणीय रंगमंच' माना जिसमें प्रदर्शन और स्थान एक-दूसरे में समाए हैं। शेक्नर का तर्क है कि प्रदर्शन में दर्शक और कलाकार एक साझा प्रक्रिया में रूपांतरित होते हैं। रामनगर यह बात सबसे स्पष्ट रूप से दिखाता है। यहाँ तीन चीज़ें विशेष रूप से सोचने लायक हैं। पहली, पाठ और प्रदर्शन का संबंध: 'मानस' का पाठ प्रदर्शन की रीढ़ है, पर प्रदर्शन उसे स्थान, देह और भीड़ में उतारता है। दूसरी, संरक्षण का प्रश्न: राजकीय आश्रय ने इस परंपरा को सदियों टिकाए रखा, पर उसके साथ लीला की सामाजिक व्यवस्था में पदानुक्रम भी बना रहा। तीसरी, आधुनिकता का प्रश्न: बिना माइक्रोफ़ोन और कृत्रिम प्रकाश के प्रदर्शन अब भी चल रहा है, जबकि नगर तेज़ी से बदल रहा है। यूनेस्को

ने 2008 में रामलीला को मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर की सूची में शामिल किया, इस श्रेणी में रामनगर जैसी परंपराएँ आती हैं।

4.2 गुजरात के गरोडा समुदाय के चित्रित पट

चित्र-कथावाचक की परंपरा। ज्योतिंद्र जैन ने भारत की उस परंपरा को 'चित्र-कथावाचक' या 'पिक्चर शोमैन' कहा है जिसमें कथा चित्र और वाणी दोनों से कही जाती है। यह शब्द सबसे पहले आनंद कुमारस्वामी ने 1929 में प्रयोग किया था। जैन के अनुसार चित्रित पट या फलक के साथ कथा कहने की परंपरा के साहित्यिक प्रमाण कम से कम ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक जाते हैं और यह लगभग पूरे उपमहाद्वीप में रही है। बौद्ध, ब्राह्मण और जैन साहित्य में पटचित्रों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें लोगों की शिक्षा और मनोरंजन के लिए दिखाया जाता था। जैन ग्रंथों में 'मंख' नामक चित्रपट दिखाने वालों का उल्लेख है। 'यमपट' दिखाने वाले यमपट्टिकों का ज़िक्र मुद्राराक्षस और हर्षचरित जैसे संस्कृत ग्रंथों में आता है, जो नरक के दंडों के चित्र दिखाकर पाप-पुण्य और दंड-पुरस्कार का उपदेश देते थे। बंगाल में आज भी 'जम पट' कहे जाने वाले पट इसी परंपरा के लोक-रूप हैं।

यह परंपरा तुलसीदास की एक पंक्ति के सहारे भी समझी जा सकती है। मानस में जब जनक-वाटिका में सीता की सखी राम की सुंदरता का वर्णन नहीं कर पाती, तो कहा जाता है: 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी'। यानी वाणी के पास आँखें नहीं हैं और आँखों के पास वाणी नहीं। जैन इसी पंक्ति को शब्द और चित्र के बीच के अंतर की ओर संकेत मानते हैं। चित्र-कथावाचक वही कर रहा है जो इस पंक्ति के अनुसार किसी एक माध्यम के लिए संभव नहीं: वह वाणी को दृष्टि देता है और दृष्टि को वाणी। इसमें जब अभिनय, गायन, नृत्य और दर्शकों की सहभागिता जुड़ती है, तो यह संयुक्त कथन और भी समृद्ध हो जाता है।

गरोडा और उनका पट। गुजरात की गरोडा परंपरा इस बड़ी परंपरा का एक विशिष्ट रूप है। परंपरागत रूप से गरोडा समुदाय को वंकर या ढेढ़ कहे जाने वाले समुदायों के पुरोहित-कथावाचक के रूप में जाना जाता है, यद्यपि इस बिंदु पर मूल निबंध से पुष्टि कर लेना उचित है। जैन के वर्णन के अनुसार गरोडा कथावाचक एक संकरा ऊर्ध्वाधर पट काम में लेते थे जिसमें उन्नीस खाने होते थे। इनमें अंतिम तीन खाने स्वर्ग और नरक में पुरस्कार और दंड के दृश्यों के थे, जबकि शेष खाने लक्ष्मी, गणेश और शिव जैसे देवताओं, रामायण के चुने हुए प्रसंगों या गुजरात की स्थानीय गाथाओं से जुड़े थे। कुछ स्रोत इन पटों को गुजराती में 'टिपणु' कहते हैं।

इस रूप की सबसे दिलचस्प विशेषता यह है कि हर कथा के लिए केवल एक खाना है। चित्रकार को कथा के मुख्य घटना-क्रम को सीमित स्थान में दबाना पड़ता है, इसलिए वह या तो निरंतर कथन की युक्ति अपनाता है या केवल चरम प्रसंग को चुनता है, जो प्रायः करुण प्रसंग होता है। कथावाचक चरम प्रसंग तक मौखिक रूप में कथा सुनाता जाता है। जब वह उस प्रसंग पर पहुँचता है, जिसे चित्र में दिखाया गया है, तब श्रोता उत्सुकता और भावुकता से भरे होते हैं। उसी क्षण कथावाचक उठकर दान माँगता है। इस तरह चित्र केवल दृश्य सहायक नहीं, कथा-प्रदर्शन की आर्थिक और भावनात्मक रणनीति का भी हिस्सा है।

गरोडा चित्रकार कुछ विशिष्ट दृश्य-युक्तियाँ भी अपनाते हैं। एक है 'खिड़कियाँ खोलना': हरिश्चंद्र-तारामती, श्रवण और उसके अंधे माता-पिता, और नरक के चित्रण में मुख्य खाने के भीतर वर्गाकार या आयताकार चौखटों में चुने हुए दृश्य रखे जाते हैं, मानो स्थान के भीतर स्थान की रचना हो। दूसरी युक्ति दृष्टि-बिंदु की है। जब दशरथ उस कुएँ की ओर तीर

चलाते हैं जहाँ श्रवण पानी भर रहा है और उसे पशु समझ बैठते हैं, तब दोनों पात्र एक-दूसरे की उपस्थिति से अनजान हैं, पर दर्शक दोनों को एक साथ देखता है। जैन के अनुसार यह स्थिति संस्कृत नाटक की उस परंपरा जैसी है जिसमें मंच पर पात्र एक-दूसरे से अनजान होकर अभिनय करते हैं, जबकि दर्शक दोनों को देखता है। इस प्रकार चित्र में नाट्यशास्त्रीय बोध और कथा-शिल्प साथ-साथ चलते हैं।

पट एक चलता-फिरता मंदिर। पाठ्यक्रम इस पाठ के संदर्भ में दृश्य-श्रव्य समन्वय पर ज़ोर देता है, यानी चित्र और मौखिक वाचन मिलकर जन-सामान्य तक नैतिक और धार्मिक आख्यान पहुँचाते हैं। जैन के विश्लेषण में इसका एक और आयाम है: पट केवल कथा का 'दृश्य सहायक' नहीं, एक पवित्र वस्तु है। गरोडा कथावाचक अपनी पट-वाचन-यात्राओं को 'जात्रा' यानी तीर्थयात्रा कहते हैं। वे अपने पट को चलता-फिरता मंदिर मानते हैं, और पट का ऊपरी भाग मंदिर के शिखर के आकार में चित्रित होता है। इस तरह कथा का सुनना-देखना तीर्थ-अनुभव बन जाता है। जैन का निष्कर्ष है कि पट को चित्रित करने, उसे प्रदर्शित करने और उसे सुनने-देखने, तीनों क्रियाओं का गहरा अनुष्ठानिक महत्त्व है।

इसी परंपरा के कुछ और उदाहरण जैन ने दिए हैं। मध्य-पूर्वी गुजरात के राठवा आदिवासी और पश्चिमी मध्य प्रदेश के भिलाला अपने सृष्टि-मिथक के विशद चित्र झोपड़ियों की दीवारों पर बनाकर उन्हें आत्मा-आह्वान के अनुष्ठान से पवित्र करते हैं, और चित्रित दीवारें जीवित मंदिर बन जाती हैं। तेलंगाना में पुराने, फटे पटों को शव की तरह जलाकर नदी में प्रवाहित करने की प्रथा थी। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि चित्र-कथा की परंपरा में चित्र और पवित्रता का संबंध कितना गहरा है।

समकालीनता से बातचीत। जैन का लेख यह भी दिखाता है कि चित्र-कथावाचक परंपराएँ जड़ नहीं रहीं। बंगाल के पटुआ कलाकारों ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में छपाई, फ़ोटोग्राफ़ी और सिनेमा जैसे नए माध्यमों को अपने पटों में आत्मसात किया। मेदिनीपुर के पटुआ पटों में स्वतंत्रता के बाद के सामाजिक बदलावों पर व्यंग्य है और इंदिरा गांधी की हत्या जैसी घटनाएँ भी चित्रित हैं, जिन्हें पटुआ पारंपरिक देवी-पटों की तरह प्रारंभिक वंदना के साथ शुरू करते हैं। संथाल पटों में ज़मींदारी, भूमि-हड़प और महाजन-शोषण जैसी बातें भी आई हैं। एक पट में यम को वर्दीधारी पुलिसकर्मी के रूप में दिखाया गया है। जैन का तर्क है कि लोक-कलाकारों के सामने विकल्प यह है कि वे अपनी विरासत की निर्जीव प्रतिकृतियाँ बनाकर स्मृति-चिह्न बाज़ार को बेचें, या अपनी समकालीन सामाजिक-राजनीतिक स्थिति पर विचार करके उसे अभिव्यक्त करें। दूसरा रास्ता अधिक जीवंत है। यह तर्क गरोडा परंपरा पर भी विचारणीय है, जिसके सामने संरक्षण और नवीनता का वही द्वंद्व है।

4.3 पाबूजी की फड़

पाबूजी और उनकी कथा। पाबूजी राजस्थान के लोक-देवता हैं, जिन्हें चौदहवीं शताब्दी का वीर माना जाता है। कथा के अनुसार वे राठौड़ राजपूत वंश के थे और कोलूमंड (फलौदी के निकट कोलू) उनकी राजधानी और मुख्य मंदिर-स्थल है। उनका जन्म उनके पिता धांधल और एक अप्सरा से हुआ। यह अप्सरा समय-समय पर शेरनी का रूप धर लेती थी और उसी रूप में शिशु पाबूजी को स्तनपान कराती थी। बाद में वही अप्सरा केसर कालमी नामक चमत्कारी घोड़ी के रूप में पुनर्जन्म लेकर उनकी रक्षक बनी। देवल नाम की चारण स्त्री ने पाबूजी को यह घोड़ी इस वचन पर दी कि वे सदा उसकी गायों की रक्षा करेंगे। विवाह के फेरों के बीच ही खबर आती है कि खींची ने देवल की

गायें घेर ली हैं। पाबूजी विवाह छोड़कर युद्ध में जाते हैं, गायें छुड़ाते हैं और अंततः युद्ध में वीरगति पाते हैं। लोक-विश्वास में वे मरते नहीं, देवत्व प्राप्त करते हैं। भोपाओं के अनुसार पाबूजी इसलिए पूज्य हैं कि उन्होंने गायों को बचाने के लिए प्राण दिए, और गाएँ उनके जीवन का आधार हैं। इस कारण पशुपालक, घुमंतू और पशुपालन पर निर्भर समुदाय उन्हें अपना देवता मानते हैं। रामायण से भी उनका संबंध जुड़ा है: उन्हें लक्ष्मण का अवतार कहा जाता है।

भोपा-भोपी और उनका समुदाय। एलिज़ाबेथ विकेट के अध्ययन के अनुसार पाबूजी की फड़ गाने वाले भोपा-भोपी युगल राजस्थान के पश्चिमी थार क्षेत्र में, जयपुर से शेखावाटी तक और जोधपुर से जैसलमेर तक, मिलते हैं। वे राजस्थान की भील जनजाति की नायक उपशाखा के सदस्य हैं और अपने को 'भोपा' यानी भक्त-प्रस्तुतकर्ता कहते हैं। यह परंपरा पैतृक है, और भोपा समुदाय आपस में ही विवाह करता है। भावी भोपियाँ बहुत छोटी उम्र में भावी भोपाओं से सगाई में बाँध दी जाती हैं। भारत की स्वतंत्रता (1947) से पहले भोपा ठाकुर द्वारा नियंत्रित दस गाँवों तक के क्षेत्र में घूमते थे। अब वे अपेक्षाकृत स्थायी बसावटों में रहते हैं, पर आमंत्रण मिलने पर दूसरे गाँव भी जाते हैं। उनके मुख्य संरक्षक रायका या रेबारी ऊँट-पालक घुमंतू समुदाय हैं।

जब पशु बीमार पड़ते हैं या मरते हैं, तब भोपाओं को पाबूजी की फड़ पढ़ने बुलाया जाता है। माना जाता है कि वे पाबूजी की आध्यात्मिक उपस्थिति का आह्वान करते हैं। फड़ का पाठ वर्षा लाने, खारे पानी को मीठा बनाने और रोग-निवारण के लिए भी होता है। विकेट के अनुसार भक्त, और कभी-कभी भोपा, पाबूजी के आवेश में आकर अलौकिक संकटों का कारण बताते और उपचार सुझाते हैं। भोपियाँ कभी पाबूजी से आविष्ट नहीं होतीं, उनकी सहचर देवी माताजी हैं।

फड़ का स्वरूप। फड़ एक लाल कपड़ा है जिस पर मुख्य पात्र, बुर्जों वाले महल, काल्पनिक पशु, घुड़सवार और अनेक युद्ध-दृश्य क्षैतिज पंक्तियों में चित्रित होते हैं। विकेट के अनुसार, जॉन स्मिथ के विश्लेषण पर आधारित, पूरी फड़ में सैद्धांतिक रूप से सौ दृश्य या समूह होते हैं, जो कालक्रम में नहीं, एकसाथ दिखने वाले क्रम में बिखरे रहते हैं। ज्योतिंद्र जैन के अनुसार फड़ लगभग डेढ़ मीटर ऊँची और पाँच से आठ मीटर लंबी होती है और उसमें लगभग साठ प्रसंग होते हैं। ये अलग-अलग माप विभिन्न फड़ों और स्रोतों की विविधता दिखाते हैं। पाबूजी मुख्य आकृति के रूप में प्रोफ़ाइल में मध्य में चित्रित होते हैं, और उनके नीचे उछलती हुई केसर कालमी होती है। फड़ परंपरागत रूप से जोशी जाति के चित्रकार बनाते हैं, जो शाहपुरा, भीलवाड़ा, चित्तौड़गढ़ और उदयपुर जैसे क्षेत्रों में रहते हैं।

जैन ने फड़ की अनोखी संरचना की ओर ध्यान दिलाया है। इसमें प्रसंग कालक्रम से नहीं, सजे हुए स्थानिक विन्यास में बिखरे हैं। जब भोपा कथा सुनाता है, तो वह कालक्रम से चलता है, और संबंधित चित्र-प्रसंग की ओर उसी क्षण संकेत करता है जब कथा में उसका उल्लेख आता है। दो क्रमिक प्रसंगों के चित्र बहुत दूर भी हो सकते हैं। उन्हें जोड़ने के लिए भोपा को नाचते हुए एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक जाना पड़ता है। इस दौरान उसे गीत और संगीत के तात्कालिक सृजन का अवसर मिलता है। यानी फड़ की रचना इस तरह की गई है कि वह गद्य-पद्य के मौखिक कथन, नृत्य और संगीत के संयुक्त प्रदर्शन को अवसर देती है। फड़ में चित्रों का स्थान भी सोचा-समझा है: बाईं ओर नायक के निजी जीवन के प्रसंग, बीच में महल और दरबार, और दाईं ओर शत्रु-शिविर।

फड़ एक जीवित मंदिर। भक्तों का विश्वास है कि फड़ पाबूजी का जीवित मंदिर है। पूजा, धूप और प्रार्थना के बाद पाबूजी स्वर्ग से उतरकर फड़ में उपस्थित हो जाते हैं। इसी कारण भोपा-भोपी फड़ की ओर पीठ करके खड़े नहीं होते,

और अनुष्ठानिक प्रस्तुति में भोपी घूँघट रखती है। जब पुरानी या क्षतिग्रस्त फड़ को छोड़ना होता है, तो उसे पुष्कर झील ले जाकर देवता के आह्वान और अनुनय के बाद विसर्जित किया जाता है, मानो शव के अस्थि-विसर्जन की तरह। जैन के अनुसार फड़ चित्रित हो जाने के बाद देवता के आह्वान से पवित्र की जाती है। यह वही बात है जो गरोडा के पट में दिखी: कथा और पवित्र स्थान का संगम।

प्रदर्शन-विधि। अनुष्ठानिक प्रस्तुति में भोपी फड़ के बाईं ओर खड़ी होकर गाती है और कभी-कभी तेल के दीपक से फड़ को रोशन करती है, जबकि भोपा दाईं ओर खड़ा होकर रावणहत्था बजाता है और कथा के प्रसंगों को कभी-कभी अभिनीत भी करता है। इसे वे 'फड़ पढ़ना' कहते हैं। प्रस्तुति के पहले भोपा 'आरती' नाम का वंदना-गीत गाता है, जिसमें पाबूजी से पालकी से उतरकर पूजा स्वीकार करने की प्रार्थना की जाती है। प्रस्तुति के दो प्रकार हैं, जिन्हें तालिका में देखा जा सकता है।

पक्ष	गाव (गीत)	अर्थाव (वाचन)
प्रस्तुतकर्ता	मुख्यतः भोपी, भोपा के संगीत और शुरुआती शब्दों के साथ	केवल भोपा
शैली	ऊँचे स्वर में भावपूर्ण गायन	ऊँचे स्वर का गद्यात्मक वाचन
भूमिका	भावनात्मक संघर्षों और सामाजिक चिंताओं को स्वर देना	घटनाओं का तटस्थ वर्णन; फड़ के चित्रों की ओर संकेत
विस्तार	प्रस्तुति का बड़ा भाग	विकेट की रिकॉर्डिंग में 25 प्रतिशत से कम

स्त्री-स्वर और सामाजिक आलोचना। विकेट का सबसे मौलिक योगदान भोपी की भूमिका को सामने लाना है। उनके अनुसार पाबूजी की फड़ की सबसे विशिष्ट बात यह है कि महाकाव्य का अधिकांश गायन भोपी करती है। अधिकतर प्रसंगों में प्रमुख पात्र की आवाज़ स्त्री की होती है, और केलम दे तथा देवी देवल चारणी जैसी स्त्रियाँ बोलती हैं, जबकि पुरुष नायक मौन रहते हैं। इसका अर्थ है कि गाव अंश उन स्त्री-श्रोताओं की चिंताएँ भी व्यक्त करता है जो प्रदर्शन में आती और उसे संरक्षण देती हैं। विकेट ने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि पुरुष बचपन से औपचारिक रूप से महाकाव्य सीखते हैं, जबकि स्त्रियाँ पति के घर रहने के बाद ही गाना शुरू कर सकती हैं।

भोपियाँ गाने के दौरान दैनिक जीवन की समस्याएँ महाकाव्य में पिरो देती हैं: वादे के अनुसार दहेज न मिलने की पीड़ा, पुरुषों के झूठे दहेज-वादे, सामंती संरक्षक की सेवा में मिलने वाला कम पारिश्रमिक और अपमान, सास के ताने। एक वाक्य जो दो अलग-अलग भोपियों ने दोहराया: 'हमें छाछ भी मुश्किल से मिलती है, दही की तो बात ही क्या।' ये प्रसंग जयपुर में केलम दे के पात्र और जैसलमेर में गोगाजी के विवाह प्रसंग में दिखे। इन्हीं प्रसंगों में हरमल रायका का पात्र है, जिसे बुद्धो राव से नौकरी का एक हास्यास्पद अनुबंध मिलता है: चार टका वार्षिक वेतन, साल में बारह नहीं चौबीस महीने, और ऊपर से कर और दान। विकेट ने इस प्रसंग को एक समकालीन सम्मिलन माना है जो ऊँची जाति के संरक्षकों द्वारा निचली जातियों के शोषण की ओर संकेत करता है।

विकेट के अनुसार फड़ और गाए जाने वाले पाठ में अंतर भी है। फड़ में चित्र रूढ़िगत और प्रोफ़ाइल में बने हैं, इसलिए भावनात्मक रूप से तटस्थ हैं। भोपी उन्हें भावना और समकालीन प्रासंगिकता देती है। कुछ प्रमुख सामाजिक प्रसंग फड़ पर चित्रित ही नहीं हैं। भोपा प्रायः फड़ को पृष्ठभूमि की तरह इस्तेमाल करते हैं, न कि स्मरण-सहायक की तरह। 'हुंकारिया' नाम का एक सहभागी श्रोता भी है, जो प्रस्तुति के दौरान टोकता, प्रशंसा करता और 'फिर क्या हुआ?' जैसे प्रश्न पूछता है। इसी के कारण प्रस्तुति बहुस्वरीय, सहयोगी पाठ बन जाती है।

रामायण का स्थानीयकरण और पहचान का प्रश्न। पाबूजी की फड़ में एक और स्तर है। भोपा पाबूजी को लक्ष्मण का अवतार कहते हैं और कथा में केसर कालमी तथा सीता-हरण की लंका जैसे संदर्भ आते हैं। हरमल रायका लंका से सांड़नी, यानी ऊँटनी, लाने जाता है, और वहाँ रावण की माता सिकोतरी माता जैसे पात्र भी मिलते हैं। एल्फ़ हिल्टेबीटल की दृष्टि से, जिसका विकेट ने उल्लेख किया है, इसे रामायण का 'स्थानीयकरण' कहा जाता है: बड़े महाकाव्य के पात्र लोक-महाकाव्य में नया जन्म लेते हैं। परंतु हिल्टेबीटल के अनुसार यह केवल महान परंपरा से लघु परंपरा की ओर प्रवाह नहीं है। लोक-महाकाव्य अपने समुदाय की विश्व-दृष्टि की स्वतंत्र अभिव्यक्ति हैं।

विकेट इस पर एक विशेष बात जोड़ती हैं। इस महाकाव्य में पाबूजी के भील सेवक चंदोजी, ढेबोजी और रायका हरमल क्षत्रिय कहलाने वाले योद्धाओं के समान स्तर के चित्रित हैं, जबकि वे जातीय रूप से आदिवासी हैं। चित्रकार उन्हें नायक के समान ही रेखा-स्तर पर और उसी हल्के रंग की त्वचा के साथ रंगते हैं। इसे विकेट ने सामाजिक स्थिति का उलटाव कहा है, और उनके विश्लेषण के अनुसार भोपा 'अपनी ही कहानी' सुना रहे हैं। वे यह भी कहती हैं कि यह परंपरा का 'आविष्कार' नहीं, बल्कि वंचित समूहों द्वारा लोक-परंपरा को राजनीतिक और लोकतांत्रिक बनाने की ऐतिहासिक प्रवृत्ति का प्रमाण हो सकता है। यहाँ अध्याय 1 में चर्चित वैधता और पुनराविष्कार की चर्चा दोबारा उभरती है।

चुनौतियाँ और परिवर्तन। विकेट ने अपने शोध में स्पष्ट चिंता जताई है। टेलीविज़न और पर्यटन-उद्योग की माँग ने प्रस्तुति के स्वरूप को बदलने का दबाव बनाया है। भोपाओं के मुख्य संरक्षक घुमंतू समुदायों की चरागाह ज़मीनें विकास के कारण सिकुड़ रही हैं और जल-स्रोत निजी स्वामित्व में जा रहे हैं। बढ़ते सूखे और शहरीकरण के कारण कई कलाकार कस्बों में बसकर पर्यटक-स्थलों में प्रस्तुति देने लगे हैं। वहाँ फ़ोक-फ़ेस्टिवलों और विदेश जाने वाली मंडलियों के लिए कड़ी प्रतिस्पर्धा है। शिक्षा के प्रसार के साथ नई पीढ़ी नकद-आधारित शहरी आजीविका को चुन रही है। प्रस्तुतियों के संदर्भ में भी भेद उभरा है: जिन प्रस्तुतियों में भोपियों ने घूँघट हटाया, उन्हें कलाकारों ने 'धर्मनिरपेक्ष' या 'पर्यटक' प्रस्तुति कहा, जबकि घूँघट के साथ की प्रस्तुतियाँ 'अनुष्ठानिक' थीं। अनुष्ठानिक और पर्यटक रूपों का यह भेद आज की लोक-परंपरा के बड़े संकट को दर्शाता है: एक ही प्रदर्शन दो अलग-अलग संचार-उद्देश्यों के बीच बँटता जा रहा है।

4.4 आंध्र प्रदेश का छाया कठपुतली थिएटर

तोलू बोम्मालता का परिचय। तेलुगु में 'तोलू' का अर्थ चमड़ा, 'बोम्म' का अर्थ पुतली और 'आट' का अर्थ खेल है, यानी तोलू बोम्मालता 'चमड़े की पुतलियों का नृत्य या खेल' है। एम. नागभूषण शर्मा, जो उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, के रंगमंच-कला विभाग के प्रमुख थे, ने संगीत नाटक अकादमी के लिए इस पर संक्षिप्त पर समग्र अध्ययन लिखा। इसमें आंध्र की छाया-कठपुतली का इतिहास, विषय-वस्तु, तकनीक और प्रस्तुति, उसके पारंपरिक कलाकारों

का इतिहास और संरक्षण के उपाय शामिल हैं। नागभूषण शर्मा के अनुसार आंध्र की छाया-कठपुतलियाँ अपने विशाल, मानव से बड़े आकार, जटिल रंग-योजना और अभिव्यक्ति की विविध विधियों के लिए अद्वितीय हैं। उन्हें रंगीन रूपांतरण के द्वारा मनोरंजन का प्राचीनतम रूप कहा गया है, जो लंबे समय तक ग्रामीण जनता का एकमात्र मनोरंजन रहा और सदा मनोरंजन तथा नैतिक शिक्षा को जोड़ता रहा।

छाया-कठपुतली केवल आंध्र तक सीमित नहीं है। नागभूषण शर्मा के अनुसार यह आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, ओडिशा, केरल और महाराष्ट्र में लोकप्रिय रही। केरल, ओडिशा और महाराष्ट्र की मौजूदा छाया-कठपुतलियाँ श्वेत-श्याम हैं, जबकि कर्नाटक और आंध्र की कठपुतलियाँ बहुरंगी हैं। यह रंग-भेद सौंदर्य-बोध ही नहीं, प्रदर्शन के अनुभव का भी अंतर बनाता है।

इतिहास। तोलू बोम्मालता के इतिहास पर अलग-अलग दावे मिलते हैं। कुछ स्रोत इसकी जड़ें ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी तक बताते हैं और सातवाहन काल, ईसा पूर्व दूसरी से ईसा की दूसरी शताब्दी तक, में इसके प्रचलित होने की बात कहते हैं। कुछ कला-आलोचकों का मत है कि यह कला आंध्र से इंडोनेशिया, कंबोडिया, मलेशिया, थाईलैंड और बर्मा तक पहुँची, और इंडोनेशिया के 'वयांग' की उत्पत्ति भी इसी में है। यह कथन विवादित है और विद्वान प्रायः वयांग को दक्षिण-पूर्व एशिया की अपनी विकसित परंपरा मानते हैं, जिसे भारतीय कथाओं और कठपुतली-रूपों से जोड़ा जा सकता है। नागभूषण शर्मा के विश्लेषण के आधार पर अधिक ठोस बात यह है कि तेरहवीं शताब्दी तक आंध्र में छाया-नाटक एक सुस्थापित परंपरा थी, क्योंकि तेलुगु साहित्य में उसके संदर्भ हैं। उनके अनुसार आंध्र में छाया-रंगमंच की दो अलग परंपराएँ दिखती हैं: एक प्राचीन और दूसरी अपेक्षाकृत आधुनिक। साथ ही आंध्र के कठपुतली-कलाकारों में से कई का महाराष्ट्र से प्रवास हुआ बताया गया है। एक लोकप्रिय विवरण के अनुसार अठारहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र के कठपुतली-कलाकार दक्षिण की ओर आए और उन्होंने इस परंपरा को नया रूप दिया। दर्शकों के लिए पहले वे केवल तेलुगु में प्रदर्शन देते थे।

कलाकार और समुदाय। इस कला को आज मुख्यतः आरे कापु समुदाय अपनाए हुए है, जो 'बोम्मलाट वल्लु' यानी पुतली-खेल करने वाले कहलाते हैं। यह पैतृक शिल्प है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुरुष-परंपरा में आगे बढ़ता है। आज यह परंपरा अनंतपुर, गुंटूर और नेल्लोर ज़िलों में केंद्रित है। इन परिवारों में से कई के पास स्थायी घर नहीं है, और वे घुमंतू हैं। लोक-विवरणों के अनुसार इसके कलाकार घुमंतू मनोरंजनकर्ताओं और फेरीवालों के उस समूह का हिस्सा रहे हैं जो वर्ष भर गाँव-गाँव घूमकर गाथा-गायन, भविष्य-कथन, ताबीज़-विक्रय और अन्य काम करते थे। नागभूषण शर्मा ने इस जीविका-संकट पर चिंता जताई कि कलाकार केवल कठपुतली से परिवार का पेट नहीं पाल सकते और दूसरे काम अपनाने को बाध्य हैं। उन्होंने सरकार से इस परंपरा के संरक्षण में तत्काल आगे आने का आग्रह किया।

तकनीकी पहलू। तोलू बोम्मालता की कठपुतलियाँ अपार आकार की हैं, प्रायः पाँच से छह फ़ुट ऊँची, जो दक्षिण भारत की अन्य कठपुतली परंपराओं में अनूठा है। उनकी शैली और दृश्य-भाषा लेपाक्षी के वीरभद्र मंदिर के भित्ति-चित्रों से प्रेरित बताई जाती है। कठपुतलियाँ चपटी, कच्ची खाल या कठोर चर्मपत्र को काटकर बनाई जाती हैं और उनमें जोड़ होने के कारण अंग हिलाए जा सकते हैं। दर्शक और कठपुतली के बीच एक सफ़ेद पर्दा होता है, जिसके पीछे प्रकाश-स्रोत रखा जाता है। इस पर्दे पर पारदर्शी रंगीन आकृतियाँ छाया और रंग का मिश्रित प्रभाव रचती हैं। नागभूषण शर्मा की पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा गया है कि यह कला मंच-प्रदर्शन की 'सजीव' संभावना और रंगीन

फ़िल्म की मोहक चमक दोनों को समेटे हुए है, और बहुरंगी पौराणिक आकृतियाँ सफ़ेद पर्दे के पीछे पारदर्शिता के कारण निकटता और दूरी का दुर्लभ मेल रचती हैं।

संवाद, गीत और संगीत इस प्रदर्शन के अभिन्न अंग हैं। कलाकार स्वयं पुतलियों को चलाता है और गाता भी है, और अन्य सहयोगी संगीत और संवादों में सहायता करते हैं। तोलू बोम्मालता की गायन-शैली और स्वर-उच्चारण की परंपराएँ 'सत्यभामा कलापम' जैसी पुरानी नाट्य-शैली से मिलती-जुलती बताई जाती हैं। इसकी विषय-वस्तु में रामायण और महाभारत के प्रसंग प्रमुख हैं, और कुछ प्रस्तुतियाँ रंगनाथ रामायणम् जैसे तेलुगु पाठों पर आधारित हैं। यह तथ्य कि छाया का खेल हिंदू महाकाव्यों को नाटकीय रूप देने की अनेक विधियों में से एक है, उसे भारतीय महाकाव्य-परंपरा का सजीव अंग बनाता है। कुछ विश्लेषक छाया-नाटक की तुलना फ़िल्म से भी करते हैं और इसे चित्रों को जीवंत बनाने की ऐसी चतुर तकनीक कहते हैं जो फ़िल्म-उद्योग से सदियों पहले विकसित हुई।

सामाजिक और संचार-संबंधी पहलू। पाठ्यक्रम इस पाठ के संदर्भ में जन-संचार के ऐतिहासिक महत्त्व पर बल देता है। ग्रामीण जनता के लिए तोलू बोम्मालता केवल मनोरंजन नहीं, कथाओं और नैतिक विचारों तक पहुँचने का मुख्य माध्यम था। इसमें प्रकाश, संगीत, छाया और संवाद एक साथ चलते हैं, जिससे यह बहु-इंद्रिय अनुभव बनता है। राजकीय संरक्षण का लंबा इतिहास भी इसकी संचार-भूमिका का संकेत है। पर समाज-शास्त्रीय दृष्टि से इसके जटिल पक्ष भी हैं: कलाकार घुमंतू और सामाजिक रूप से हाशिये के समुदायों से हैं, जबकि वे जिन कथाओं को सुनाते हैं वे समाज के सबसे प्रतिष्ठित धर्म-ग्रंथों की कथाएँ हैं। यह विरोधाभास हमें फिर याद दिलाता है कि सांस्कृतिक स्मृति के वाहक अक्सर वे लोग होते हैं जिन्हें समाज सबसे कम आर्थिक सुरक्षा देता है।

4.5 चारों पाठों की तुलना

पक्ष	रामनगर रामलीला	गरोडा चित्र-पट	पाबूजी की फड़	तोलू बोम्मालता
कथा का वाहक	नगर, स्वरूप और रामायणी-पाठ	उन्नीस खानों का ऊर्ध्वाधर पट और कथावाचक	लाल कपड़े की फड़, भोपा-भोपी और रावणहत्था	चमड़े की रंगीन आकृतियाँ, प्रकाश और गायन
स्थान का स्वरूप	पूरा नगर, आरक्षित पवित्र स्थल	चलती-फिरती 'जात्रा'	फड़ स्वयं चलता-फिरता मंदिर	पर्दा और प्रकाश; घुमंतू प्रदर्शन
समुदाय	काशी-नरेश, स्थानीय परिवार, व्यास और स्वरूप	गरोडा कथावाचक	भील उपशाखा नायक भोपा-भोपी; जोशी चित्रकार; रायका संरक्षक	आरे कापु 'बोम्मलाट वल्लु'
पवित्रता	स्वरूप देवता हैं; लीला यज्ञ है	पट पवित्र वस्तु, शिखर-आकार	फड़ में पाबूजी का आह्वान; विसर्जन	प्रदर्शन में धार्मिक आख्यान; दैवी विषय

पक्ष	रामनगर रामलीला	गरोडा चित्र-पट	पाबूजी की फड़	तोलू बोम्मालता
पाठ-संबंध	'रामचरितमानस' आधार	देवता, रामायण और गुजराती लोक-कथाएँ	मौखिक महाकाव्य; रामायण से जुड़ाव	रामायण-महाभारत; रंगनाथ रामायणम्
संचार का कार्य	भक्ति, सामुदायिक एकता, अनुष्ठान	नैतिक-धार्मिक शिक्षा; दान-आर्थिक रणनीति	उपचार, सामाजिक आलोचना, स्त्री-स्वर	जन-मनोरंजन और नैतिक शिक्षा
प्रमुख चुनौती	आधुनिकता के साथ अनुष्ठान की शुद्धता	संरक्षण बनाम नवीनता	पर्यटन, चरागाह-संकट, स्थिर बसावट	आजीविका का संकट, घुमंतू जीवन

4.6 अध्याय और इकाई II का समग्र निष्कर्ष

चारों पाठों के संयुक्त पाठ से पाँच बातें उभरती हैं। पहली, पवित्रता और प्रदर्शन अलग नहीं हैं। रामलीला में स्वरूप देवता है, गरोडा के पट में मंदिर का शिखर है, पाबूजी की फड़ में देवता का निवास है, और तोलू बोम्मालता की कथाएँ पौराणिक हैं। दूसरी, कथा किसी वस्तु या स्थान में बसती है, चाहे वह रामनगर की भूमि हो, पट का कपड़ा हो, फड़ का लाल पट हो, या चमड़े की आकृतियाँ हों। तीसरी, ये परंपराएँ समुदाय की सामाजिक संरचना के भीतर चलती हैं: संरक्षक कौन है, प्रस्तुतकर्ता किस जाति या वंश का है, और स्त्रियों की क्या भूमिका है। चौथी, ये परंपराएँ पाठ्य-रूप और प्रदर्शन-रूप के बीच के द्वैत को तोड़ती हैं, जिसकी चर्चा अध्याय 3 में हुई। 'मानस', चित्र, पांडुलिपि और मौखिक स्मृति, सब एक ही प्रदर्शन में साथ मिलते हैं। पाँचवीं, सभी परंपराएँ आर्थिक और तकनीकी बदलावों के दबाव में हैं, और उनके भविष्य का प्रश्न संरक्षण से आगे जाकर यह पूछता है कि कलाकार को सम्मानजनक आजीविका कैसे मिले।

पूरे पाठ्यक्रम की पहली दो इकाइयों को साथ देखें तो एक व्यापक चित्र उभरता है। इकाई I में हमने कथाओं के स्वरूप और सामाजिक कार्यों को देखा, और इकाई II में उन कथाओं के प्रदर्शन-माध्यमों को। दोनों मिलकर बताते हैं कि भारत में आख्यान सुनने, देखने और भाग लेने की सामूहिक क्रिया है, जिसमें समुदाय अपने अतीत, अपनी पवित्र भूमि और अपनी सामाजिक चिंताओं को साझा करता है। यही कारण है कि इन परंपराओं का अध्ययन केवल सौंदर्य या मनोरंजन का अध्ययन नहीं, समाज को समझने का एक तरीका भी है।

4.7 सन्दर्भ ग्रंथ

- Ramlila in Ramnagar, बलवंत गार्गी (पूरा पढ़ा)
- Connecting to Ramlila through its rituals, Narthaki
- Ramlila of Ramnagar, NVLI
- Indian ritual theatres and UNESCO intangible cultural heritage, Vikaspedia

- Actors, Pilgrims, Kings and Gods: The Ramlila at Ramnagar
- The Art of Indian Picture Showmen: Tradition and Transformation, ज्योतिंद्र जैन (पूरा पढ़ा)
- Jyotindra Jain, विकिपीडिया
- The Epic of Pabuji ki par in Performance, एलिज़ाबेथ विकेट, 2010 (पूरा पढ़ा)
- The Epic of Pabuji Collection, World Oral Literature Project
- Tholu bommalata, विकिपीडिया
- Tolu Bommalata, एम. नागभूषण शर्मा (पुस्तक-विवरण)
- The Shadow Puppet Theatre of Andhra Pradesh, नागभूषण शर्मा
- Tholu Bommalaata: The Centuries-Old Shadow Puppetry Tradition, Homegrown

इकाई III: प्रदर्शन के रूप में जुलूस: यात्रा, बारात और जुलूस

अध्याय 5

धार्मिक यात्राएँ, रथयात्रा और पवित्र स्थान पर अधिकार

भूमिका: चलता हुआ पवित्र स्थान

भारत में पवित्रता को अक्सर किसी स्थिर स्थान से जोड़कर देखा जाता है: मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, दरगाह या तीर्थ। परंतु दक्षिण एशिया की धार्मिक परंपराओं में एक दूसरी धारा भी उतनी ही प्राचीन और शक्तिशाली है, जिसमें पवित्रता स्थिर नहीं रहती, बल्कि गली, सड़क और बाज़ार से होकर गुज़रती है। देवता मंदिर से बाहर निकलते हैं, ताज़िया इमामबाड़े से उठकर कर्बला की ओर बढ़ता है, तीर्थयात्री अपने गाँव से कई सौ किलोमीटर दूर किसी पवित्र नदी या पर्वत की ओर चल पड़ते हैं। इन सभी आयोजनों में चलना स्वयं एक अनुष्ठान है और रास्ता स्वयं एक पवित्र रचना।

इस अध्याय का केंद्रीय प्रश्न यह है कि जब कोई धार्मिक समुदाय अपनी पवित्र वस्तु को सार्वजनिक स्थान में ले आता है, तो इसका क्या अर्थ होता है। इस प्रश्न के तीन आयाम हैं। पहला आयाम सत्ता का है: जुलूस निकालने का अधिकार किसके पास है, रास्ता कौन तय करता है और किस शासक या संस्था को इससे वैधता मिलती है। दूसरा आयाम स्थापत्य और रूप का है: रथ, झाँकी, ताज़िया और पालकी जैसी चलती हुई संरचनाएँ किस प्रकार पवित्र स्थान का निर्माण करती हैं। तीसरा आयाम सामुदायिक पहचान का है: सड़क पर चलती भीड़ अपने आप को और दूसरों को कैसे परिभाषित करती है।

इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए इस इकाई की पाठ्य-सूची तीन अध्ययनों को केंद्र में रखती है। हरमन कुलके का लेख पुरी की रथयात्रा को राजसत्ता और जगन्नाथ-पंथ के संबंध के संदर्भ में पढ़ता है। के. सी. डैश का लेख पुरुषोत्तम क्षेत्र में रथयात्रा के ऐतिहासिक उद्भव की जाँच करता है। जे. आर. आई. कोल की पुस्तक अवध के शिया समाज में मुहर्रम और ताज़िया की सामाजिक-धार्मिक संरचना को राज्य के साथ जोड़कर समझाती है। इन तीनों को एक साथ पढ़ने पर एक साझा सूत्र दिखाई देता है: पवित्र जुलूस केवल भक्ति की अभिव्यक्ति नहीं, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की रचना भी है।

5.1 पुरी की रथयात्रा: स्वरूप और अनुष्ठानिक क्रम

पुरी की रथयात्रा आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को आरंभ होती है, जो सामान्यतः जून या जुलाई में पड़ती है। इस दिन जगन्नाथ, उनके अग्रज बलभद्र और बहन सुभद्रा की काष्ठ-प्रतिमाएँ मंदिर के सिंहद्वार से बाहर लाई जाती हैं और तीन विशाल रथों पर विराजमान की जाती हैं। जगन्नाथ का रथ नंदीघोष, बलभद्र का तालध्वज और सुभद्रा का रथ दर्पदलन नाम से जाना जाता है। कुलके के लेख में भी सुभद्रा के रथ के नाम का उल्लेख मिलता है। तीनों रथ पुरी की चौड़ी मुख्य सड़क, जिसे बड़दांड कहा जाता है, पर खींचे जाते हैं और लगभग तीन किलोमीटर दूर गुंडिचा मंदिर पहुँचते हैं। देवता वहाँ कुछ दिन ठहरते हैं और फिर बाहुड़ा यात्रा के रूप में लौटते हैं।

इस पूरे क्रम में कई अनुष्ठान ऐसे हैं जो जुलूस के सार्वजनिक चरित्र को स्पष्ट करते हैं। रथ पर देवता के आरोहण से पहले पहंडी नामक विधि होती है, जिसमें सेवायत प्रतिमाओं को धीरे-धीरे, लयबद्ध ढंग से झुलाते हुए ले जाते हैं। इसके बाद

छेरा पहँरा की रस्म आती है, जिसमें गजपति राजा स्वयं रथ के मंच पर झाड़ू लगाते हैं। यह दृश्य, जिसमें सर्वोच्च राजा स्वयं को देवता का सफाईकर्मी घोषित करता है, रथयात्रा की राजनीतिक व्याख्या का सबसे प्रसिद्ध प्रतीक है। रथ को खींचने का कार्य हज़ारों श्रद्धालु करते हैं, और माना जाता है कि रस्सी को छूना भी पुण्यदायी है। इसलिए जुलूस में दर्शक और भागीदार का भेद धुँधला हो जाता है। जो खींचता है, वह भी सेवक है और जो देखता है, वह भी दर्शन की क्रिया में सम्मिलित है।

रथयात्रा की एक विशेषता यह भी है कि इसमें देवता के दर्शन का सामान्य नियम पलट जाता है। जो प्रतिमा वर्ष भर गर्भगृह के भीतर रहती है और जिसके दर्शन के लिए कुछ समुदायों पर प्रतिबंध रहे हैं, वह इस दिन सड़क पर सबके सामने आ जाती है। भक्तों की भाषा में कहा जाता है कि इस दिन भगवान स्वयं भक्तों के पास आते हैं। इसी कारण इस उत्सव को पतितपावन स्वरूप का उत्सव भी कहा गया है। चल रही प्रतिमा के सामने पहुँचने की यह सुगमता ही रथयात्रा की लोकप्रियता का एक मुख्य आधार है।

5.2 हरमन कुलके: रथ और राजा

हरमन कुलके का लेख *Rathas and Rajas: The Car Festival at Puri* पहली बार 1979 में लंदन से प्रकाशित विशेष अंक में छपा, जिसका विषय एशिया की चल वास्तुकला था। इसे बाद में 1980 में *Journal of Orissan History* में पुनर्प्रकाशित किया गया। लेख के आरंभिक वाक्य में पुरी की रथयात्रा को भारत का श्रेष्ठतम रथोत्सव कहा गया है और बताया गया है कि जगन्नाथ का रथ हर वर्ष आषाढ़ में उन्हें मंदिर से उनके ग्रीष्मकालीन निवास तक ले जाता है। शीर्षक में आया "राजा" शब्द ही लेख की मुख्य स्थापना की ओर संकेत करता है: रथ और राजसत्ता का संबंध।

कुलके के व्यापक शोध की पृष्ठभूमि में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि उन्होंने ओडिशा के इतिहास में जगन्नाथ-पंथ और क्षेत्रीय राजवंशों के संबंध पर लंबे समय तक कार्य किया। उनके अध्ययन का सार यह है कि बारहवीं शताब्दी में पूर्वी गंग वंश के शासकों ने पुरी के विशाल मंदिर का निर्माण कराया और तेरहवीं शताब्दी तक राजा ने स्वयं को देवता का प्रतिनिधि, अर्थात देवता के राज्य का सेवक, घोषित करना आरंभ कर दिया। इस व्यवस्था में जगन्नाथ राज्य के वास्तविक स्वामी हैं और राजा उनका राउत, अर्थात सेनापति या प्रतिनिधि। बाद की सदियों में गजपति राजा को चलती-फिरती विष्णु-प्रतिमा के रूप में भी देखा गया। यह वैचारिक ढाँचा रथयात्रा में दृश्यमान हो जाता है, क्योंकि वहाँ राजा देवता के रथ के सामने झुककर सेवा करता है, और इसी सेवा से उसकी सत्ता वैध ठहरती है।

कुलके के लेख का एक दूसरा बिंदु रथों के स्थापत्य रूप से जुड़ा है। उपलब्ध पाठ के अंशों से पता चलता है कि लेखक ने रथ के आकार, पहियों की संख्या, ऊपर की मंडप-जैसी संरचना और मंदिर-वास्तुकला के साथ उसके संबंध की जाँच की है। वे प्राचीन चित्रात्मक प्रमाणों की भी चर्चा करते हैं, जिनमें बारह पहियों वाला एक रथ दिखाया गया है, और यह भी देखते हैं कि पुरी के रथों के वर्तमान रूप में कोणार्क के रथ-रूप जैसी विशेषताएँ किस हद तक बाद में जुड़ीं। लेख में समुद्री हवा का भी उल्लेख है, जिसके कारण पुरी के रथों की ऊपरी रेखाओं और आवरणों का रूप प्रभावित होता है। अर्थात रथ केवल धार्मिक प्रतीक नहीं, एक ऐसी इमारत है जिसे हर वर्ष नए सिरे से बनाया जाता है और जो अपने भौगोलिक परिवेश के अनुसार ढलती है।

लेख में एक और महत्वपूर्ण पक्ष वह है जिसमें प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखों और रथयात्रा की ऐतिहासिक निरंतरता की

चर्चा है। पाठ के उपलब्ध अंशों में पुरुषोत्तम देवता की यात्रा का एक उल्लेख आता है, जिसके बारे में कहा गया है कि वह संभवतः पुरी के रथोत्सव से संबंधित है, और वह भी समुद्र के किनारे का ही उत्सव है। यहाँ यह सावधानी रखनी चाहिए कि पाठ के अंश अधूरे हैं, इसलिए ऐसे विशिष्ट प्रमाणों का उपयोग करते समय अध्येता को मूल लेख देखना चाहिए, जिसकी पूर्ण प्रति हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय के संग्रह में उपलब्ध है।

कुलके के निष्कर्षों से तीन विश्लेषणात्मक बातें निकलती हैं। पहली, रथयात्रा में धार्मिक और राजनीतिक पक्ष अलग नहीं किए जा सकते। दूसरी, किसी उत्सव का रूप, यानी रथ का स्थापत्य, उसके अर्थ का हिस्सा है। तीसरी, उत्सव की निरंतरता में परिवर्तन भी छिपा होता है: जो दृश्य आज परंपरागत लगता है, उसके कई अंश समय के साथ जुड़ते गए। इन तीनों बातों को आगे हम अन्य अध्ययनों के साथ जोड़कर देखेंगे।

5.3 चल वास्तुकला: गतिमान पवित्र स्थान की अवधारणा

चल वास्तुकला की अवधारणा इसलिए उपयोगी है कि वह इमारत की स्थायित्व वाली परिभाषा को चुनौती देती है। सामान्यतः वास्तुकला का अध्ययन पत्थर, ईंट और नींव के आधार पर होता है। परंतु एशिया के अनेक भागों में अस्थायी लकड़ी, बाँस, कपड़े और कागज़ से बनी ऐसी संरचनाएँ मिलती हैं जो अपने समय पर स्थायी इमारतों जितना ही गहरा सांस्कृतिक अर्थ वहन करती हैं। रथ, झाँकी, पालकी, विमान, मंडप और ताज़िया सभी इसी श्रेणी में आते हैं।

चल वास्तुकला की पहली विशेषता यह है कि उसका निर्माण स्वयं अनुष्ठान का हिस्सा होता है। पुरी में हर वर्ष नए रथ बनते हैं। इनके लिए लकड़ी का चयन, कारीगरों की विशेष परंपराएँ और निर्माण का अपना अनुष्ठानिक कैलेंडर होता है। रथ यात्रा के बाद उनके अंग खोले जाते हैं और उनकी लकड़ी का मंदिर की रसोई सहित अन्य कार्यों में उपयोग किया जाता है। इस तरह निर्माण, प्रदर्शन और विघटन का पूरा चक्र पवित्रता की रचना है। दूसरी विशेषता यह है कि चल संरचना के भीतर और बाहर के लोगों की भूमिकाएँ अलग होती हैं। रथ के ऊपर देवता और पुजारी होते हैं, सड़क पर भक्त, और दोनों के बीच रथ की ऊँचाई एक सामाजिक-धार्मिक दूरी रचती है। तीसरी विशेषता यह है कि चल संरचना अपने मार्ग के हर स्थान को क्षण भर के लिए पवित्र बना देती है। रथ जिस सड़क से गुज़रता है, वह जुलूस के समय एक अस्थायी तीर्थ-मार्ग बन जाती है, और जुलूस के बाद फिर साधारण गली हो जाती है।

एशिया के अन्य भागों में समानांतर उदाहरण इस अवधारणा को स्पष्ट करते हैं। तमिलनाडु के बड़े शिव और विष्णु मंदिरों में, जैसे तिरुवारूर में, विशाल काष्ठ-रथ मंदिर के चारों ओर की चौड़ी सड़कों पर निकलते हैं। नेपाल की घाटी में पाटन के रातो मछिंद्रनाथ का रथ एक ऊँचे बाँस-काष्ठ ढाँचे के रूप में खींचा जाता है। श्रीलंका के कैंडी में एसाला पेराहेरा में सजे हाथी बुद्ध के दंत-अवशेष की पेटिका को लेकर चलते हैं। जापान के क्योटो में गियोन मात्सुरी में ऊँचे तैरते मंच, जिन्हें यामा और होको कहा जाता है, सड़कों पर चलाए जाते हैं। हर स्थान की धार्मिक भाषा अलग है, पर ढाँचा समान है: एक सजा हुआ, ऊँचा और चलता हुआ आधार, जिस पर पवित्र वस्तु या देवता स्थापित है, और जिसके चारों ओर समुदाय संगठित होता है।

इस दृष्टि से पुरी का रथ एक चलता हुआ मंदिर है। कुलके के अनुसार रथ के रूप और मंदिर के रूप के बीच जो समानता है, वह संयोग नहीं है। मंदिर देवता का स्थायी निवास है, और रथ अस्थायी निवास। दोनों के बीच यात्रा, जो देवता को स्थायी निवास से उसकी ग्रीष्मकालीन बगिया तक ले जाती है, एक तरह का अनुष्ठानिक विस्थापन है, जिसमें पवित्र स्थान स्वयं गतिशील होकर समाज के सामने आता है। विक्टर टर्नर की सीमांतता और समुदायगत एकता

(कम्युनिटास) की धारणा यहाँ उपयोगी हो सकती है, क्योंकि रथ खींचते समय जाति और हैसियत के कई भेद अस्थायी रूप से ढीले पड़ जाते हैं, यद्यपि यह भी सच है कि रथ की सेवा-व्यवस्था में पारंपरिक पदानुक्रम बना रहता है।

5.4 पुरुषोत्तम क्षेत्र में रथयात्रा की उत्पत्ति: के. सी. डैश

के. सी. डैश का लेख *A Study of the Origin of Ratha Yātrā in the Puruṣottama Kṣetra* पुरी को, जिसे प्राचीन ग्रंथों में पुरुषोत्तम क्षेत्र कहा गया है, रथयात्रा के उद्भव के प्रश्न से जोड़ता है। इस लेख के पाठ का पूर्ण रूप मुझे इस शोध के दौरान सीधे उपलब्ध नहीं हो सका, इसलिए नीचे की चर्चा पाठ्यक्रम में दिए गए विवरण, यानी ऐतिहासिक उद्भव, पौराणिक स्रोत और मंदिर की अनुष्ठानिक परंपराओं, पर आधारित है। लेख के विशिष्ट तर्कों और उद्धरणों के लिए मूल प्रति देखना आवश्यक है।

रथयात्रा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विद्वानों में कई मत प्रचलित हैं। पहला दृष्टिकोण पौराणिक है। स्कंद पुराण के उत्कल खंड और अन्य ग्रंथों में इंद्रद्युम्न की कथा मिलती है, जिसमें राजा नीलाचल में दारु-ब्रह्म की स्थापना कराता है। इसी कथा के भीतर विश्वावसु नामक शबर और विद्यापति ब्राह्मण का प्रसंग भी आता है, जो इस मान्यता का आधार है कि जगन्नाथ का मूल एक आदिवासी देवता से जुड़ा था। मंदिर के दइतापति सेवक स्वयं को आज भी इसी शबर परंपरा से जोड़ते हैं, और रथयात्रा तथा नवकलेवर जैसे अनुष्ठानों में उनकी विशेष भूमिका है। दूसरा दृष्टिकोण ऐतिहासिक-तुलनात्मक है। इसके अनुसार रथोत्सव की परंपरा भारत के अनेक भागों में अलग-अलग रूप में पहले से प्रचलित थी और पुरी ने उसे अपने ढंग से विशिष्ट बनाया। इस संदर्भ में प्रायः चीनी यात्री फाह्यान के उस वर्णन का उल्लेख होता है जिसमें उसने भारत में बुद्ध की प्रतिमा के रथ-जुलूस का वर्णन किया है। इससे कुछ विद्वान बौद्ध रथोत्सव और वैष्णव रथयात्रा के बीच संभावित संबंध का अनुमान लगाते हैं, यद्यपि इसे निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता।

तीसरा दृष्टिकोण वैदिक और अनुष्ठानिक है। वैदिक यज्ञों में रथ-दौड़ और रथ पर देवता की स्थापना के संकेत मिलते हैं, और यह तर्क दिया जाता है कि रथ को देवता की सवारी मानने की धारणा बहुत पुरानी है। इन तीनों दृष्टिकोणों के बीच एक सामान्य बात यह है कि रथयात्रा के उद्भव को किसी एक तिथि या एक स्रोत में बाँधना कठिन है। पौराणिक कथाएँ उत्सव को वैधता और प्राचीनता देती हैं, जबकि ऐतिहासिक स्रोत यह दिखाते हैं कि जगन्नाथ की पूजा और उससे जुड़े उत्सव का वर्तमान संगठित रूप बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बाद ही स्पष्ट हुआ। कुलके और आइशमान तथा त्रिपाठी के साथ संपादित जगन्नाथ-पंथ संबंधी अध्ययन भी इसी निष्कर्ष की ओर इशारा करते हैं कि पंथ और राजसत्ता के गठजोड़ ने उत्सव को वर्तमान रूप दिया।

अध्येता के लिए यहाँ एक पद्धतिगत सीख है। जब हम किसी परंपरा की उत्पत्ति पूछते हैं, तो दो अलग प्रश्न पूछ रहे होते हैं। एक प्रश्न यह है कि उसका सबसे पहला ज्ञात रूप कब और कहाँ मिलता है। दूसरा प्रश्न यह है कि समुदाय स्वयं अपनी परंपरा की उत्पत्ति के बारे में क्या कहता है। पहला प्रश्न इतिहासकार का है और दूसरा सांस्कृतिक अध्ययन का। रथयात्रा के संदर्भ में दोनों उत्तर महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि पौराणिक स्मृति स्वयं ऐतिहासिक तथ्य बन जाती है जब वह लाखों लोगों के आचरण को निर्देशित करती है।

5.5 ताज़िया और अवध में लोकप्रिय शिया धर्म: जे. आर. आई. कोल

जे. आर. आई. कोल की पुस्तक *Roots of North Indian Shi'ism in Iran and Iraq: Religion and State in Awadh, 1722 to 1859* उत्तर भारत में शिया समाज के निर्माण पर एक मानक अध्ययन है। इसकी समयसीमा 1722 से 1859 है, यानी अवध के नवाबी राज्य की स्थापना से लेकर 1857 के बाद ब्रिटिश नियंत्रण के सुदृढ़ होने तक। पुस्तक का केंद्रीय तर्क यह है कि अवध में शिया धर्म केवल दरबारी संरक्षण से नहीं पनपा। उसकी जड़ें ईरान और इराक के धार्मिक केंद्रों, विशेषकर नजफ और कर्बला के विद्वानों से जुड़ी थीं, और उसका विस्तार राज्य, उलमा और आम जनता के बीच एक जटिल संबंध के माध्यम से हुआ। पाठ्यक्रम में अध्याय 4, जो लोकप्रचलित शिया धर्म पर है, का चयन किया गया है, और हमारा ध्यान भी मुहर्रम के जुलूसों की सामाजिक संरचना पर रहेगा।

मुहर्रम पैगंबर मुहम्मद के नाती इमाम हुसैन की कर्बला में शहादत की स्मृति का महीना है। इसके पहले दस दिन शोक के दिन हैं और दसवें दिन, यानी आशूरा, को सबसे बड़ा जुलूस निकलता है। अवध में इस शोक के कई रूप विकसित हुए: मजलिस, जिसमें कर्बला की कथा सुनाई और शोक-काव्य पढ़ा जाता है; मर्सिया और नौहा जैसी काव्य-विधाएँ; अलम, यानी हुसैन के ध्वज की प्रतीकात्मक प्रतिकृति; ज़ुलजनाह, यानी इमाम के घोड़े का प्रतीक; और ताज़िया, जो कर्बला में हुसैन के मकबरे की लघु प्रतिकृति के रूप में बनाया जाता है। ताज़िया बाँस, कागज़, रंगीन पन्नी, कपड़े और मोम जैसी सामग्री से तैयार होता है, और दसवें दिन उसे जुलूस में ले जाकर किसी स्थानीय कर्बला में दफनाया या ठंडा किया जाता है। यही वह बिंदु है जहाँ ताज़िया चल वास्तुकला की श्रेणी में आता है: वह एक अस्थायी इमारत है जो एक दूरस्थ पवित्र स्थान, कर्बला, को स्थानीय गली में उपस्थित कर देती है।

कोल के विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण दिशा राज्य और धर्म का संबंध है। अवध के नवाबों ने मुहर्रम को राजकीय संरक्षण दिया। लखनऊ का बड़ा इमामबाड़ा, जिसे आसफ़-उद-दौला ने 1780 के दशक में बनवाया, इस संरक्षण का सबसे स्पष्ट प्रमाण है। इमामबाड़े शोक-सभाओं के लिए स्थायी स्थान थे, और वे नगर के सार्वजनिक भूगोल में शिया उपस्थिति को स्थायित्व देते थे। नवाबों के दरबार में मुहर्रम की सजावट, मर्सिया-गायन और जुलूस की भव्यता राजसी प्रतिष्ठा से जुड़ गई। इसी कारण अवध का मुहर्रम एक साथ धार्मिक अनुष्ठान, कलात्मक आयोजन और राजनीतिक प्रदर्शन था। जब 1856 में अंग्रेज़ों ने अवध का अधिग्रहण किया, तब इस राजकीय संरक्षण का स्वरूप बदला, पर समाज में उसकी जड़ें बनी रहीं।

"लोकप्रिय" शिया धर्म की धारणा का अर्थ यह है कि मुहर्रम का आयोजन केवल दरबार या उलमा तक सीमित नहीं था। साधारण परिवार अपने घर या मोहल्ले में अलम और ताज़िया रखते थे, मन्नतें मानते थे और जुलूस में सम्मिलित होते थे। इस अर्थ में मुहर्रम एक ऐसा अवसर था जिसमें धार्मिक विद्वत्ता का औपचारिक रूप और लोकाचार का अनौपचारिक रूप एक-दूसरे से मिलते थे। उलमा, विशेषकर उसूली परंपरा के मुजतहिद, यह भी चाहते थे कि शोक-अनुष्ठान शास्त्रीय मर्यादा के भीतर रहें। इसलिए कुछ लोकप्रिय रीतियों पर उन्होंने आपत्तियाँ भी उठाईं। यहीं विद्वत्ता और जन-परंपरा का तनाव दिखाई देता है।

उत्तर भारत में मुहर्रम की एक अन्य विशेषता उसकी सामाजिक सीमाओं को लाँघने की प्रवृत्ति है। अनेक स्थानों पर हिंदू समुदायों ने भी ताज़िया रखा या मन्नतें मानीं, और कुछ समूह, जैसे हुसैनी ब्राह्मण कहलाने वाले परिवार, अपनी स्मृति को कर्बला से जोड़ते हैं। यह बहुधर्मी भागीदारी इस बात का प्रमाण है कि सार्वजनिक धार्मिक जुलूस एक संकीर्ण

संप्रदायगत घटना भर नहीं होते, वे स्थानीय संस्कृति का साझा मंच भी बन सकते हैं। परंतु यही साझापन तनाव का स्रोत भी बन सकता है, क्योंकि जब दो समुदाय एक ही सार्वजनिक स्थान को अलग-अलग समय पर अलग अर्थों में प्रयोग करते हैं, तो रास्ते, समय और ध्वनि पर विवाद उठ सकते हैं।

5.6 जुलूस, सार्वजनिक स्थान और राज्य: उत्तर भारत में शिया पहचान

कोल का अध्ययन जिस काल को देखता है, उसके बाद के दशकों में उत्तर भारत में सार्वजनिक धार्मिक जुलूस राज्य के नियमन का विषय बन गए। ब्रिटिश प्रशासन ने जुलूस के मार्ग, समय और पुलिस प्रबंध को लाइसेंस की व्यवस्था के अधीन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सड़क पर किसका जुलूस कब निकलेगा, यह स्थानीय प्रतिस्पर्धा और अधिकारी की व्याख्या का प्रश्न बन गया। इतिहासकार सैंड्रिया फ्रीटैग ने अपनी पुस्तक *Collective Action and Community* में उत्तर भारत में सार्वजनिक आयोजनों और सांप्रदायिक पहचान के निर्माण के बीच के संबंध का विवेचन किया है, और उनके तर्क का सार यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र वह मंच था जहाँ सामुदायिक सीमाएँ प्रदर्शन के माध्यम से बनीं और कभी-कभी कठोर हुईं।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के लखनऊ में शिया और सुन्नी समुदायों के बीच विवाद, विशेषकर मुहर्रम के जुलूसों में मार्ग और नारेबाज़ी को लेकर, इस प्रक्रिया के उदाहरण हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ऐसे विवाद हमेशा धार्मिक सिद्धांत से नहीं, अक्सर सार्वजनिक स्थान पर प्रतिष्ठा के दावे से उत्पन्न होते थे। जब राज्य का संरक्षण कमज़ोर पड़ता है, तब समुदाय अपने अधिकार को स्वयं प्रदर्शित करने के लिए उत्सुक होता है। इसलिए जुलूस केवल पूजा नहीं, अधिकार का दावा भी बन जाता है।

पुरी और अवध का साझा सबक यहाँ स्पष्ट होता है। पुरी में राजा देवता का सेवक बनकर अपनी सत्ता को वैध बनाता है, और अवध में नवाब इमाम हुसैन का शोक-संरक्षक बनकर। दोनों स्थितियों में पवित्र जुलूस राजसत्ता को ऐसा नैतिक आधार देता है जो केवल सैन्य या प्रशासनिक शक्ति से नहीं मिल सकता। परंतु जब राजसत्ता बदलती है, तो जुलूस अपने अर्थ को बनाए रखकर नए संरक्षकों के साथ अनुकूलन भी कर लेता है। पुरी में गजपति राजा की औपचारिक भूमिका आज भी बनी हुई है, जबकि राजसत्ता का वास्तविक स्वरूप बदल चुका है। अवध में इमामबाड़े और मुहर्रम की परंपरा नवाबी राज्य के अंत के बाद भी लखनऊ की पहचान का हिस्सा बनी रही।

5.7 पवित्र स्थान पर अधिकार: तुलनात्मक विश्लेषण

तीनों पाठों को साथ पढ़ने पर पवित्र स्थान पर अधिकार का प्रश्न चार स्तरों पर खुलता है। पहला स्तर अनुष्ठानिक अधिकार का है: कौन-सा समूह देवता या ताज़िये को छू सकता है, उठा सकता है या उसकी सेवा कर सकता है। पुरी में सेवायतों की विभिन्न श्रेणियाँ हैं, और अवध में मजलिस के संचालन की भूमिका विशेष घरानों और उलमा के पास रही है। दूसरा स्तर भौतिक अधिकार का है: जुलूस के मार्ग पर, चाहे वह पुरी का बड़दांड हो या लखनऊ की गलियाँ, किसका दावा सर्वोपरि है। तीसरा स्तर राजनीतिक अधिकार का है, यानी जुलूस से किसकी सत्ता वैध होती है। चौथा स्तर प्रतीकात्मक अधिकार का है, यानी जुलूस किस पहचान को सार्वजनिक रूप से मान्यता दिलाता है।

इन स्तरों के अंतर्संबंध को समझने के लिए एक सारणीबद्ध तुलना उपयोगी है।

पक्ष	पुरी की रथयात्रा	अवध का मुहर्रम और ताज़िया
पवित्र केंद्र	जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की काष्ठ-प्रतिमाएँ	कर्बला की स्मृति, अलम और ताज़िया
चलती संरचना	तीन विशाल काष्ठ-रथ	बाँस और कागज़ से बना ताज़िया, अलम
सत्ता से संबंध	राजा देवता का सेवक, छेरा पहँरा की रस्म	नवाबों का इमामबाड़ों और जुलूस पर संरक्षण
सार्वजनिक मार्ग	बड़दांड से गुंडिचा मंदिर तक	मोहल्लों से स्थानीय कर्बला तक
पहचान का निर्माण	जगन्नाथ-पंथ और ओडिया क्षेत्रीय पहचान	उत्तर भारतीय शिया पहचान और साझा संस्कृति

इस तुलना से एक संरचनात्मक अंतर भी दिखता है। रथयात्रा एक आनंदोत्सव है, जिसमें देवता का बाहर आना उल्लास का अवसर है, जबकि मुहर्रम शोक का आयोजन है। फिर भी दोनों में एक समानता है। दोनों में सामूहिक शारीरिक भागीदारी, अर्थात खींचना या मातम करना, भावनाओं को सार्वजनिक रूप देती है और सामूहिक स्मृति को शरीर में स्थापित करती है। इसी कारण धार्मिक जुलूस के अध्ययन में केवल प्रतीकों को पढ़ना पर्याप्त नहीं है; भागीदारी की शारीरिक प्रकृति, ध्वनि और स्थान का अनुभव भी देखना आवश्यक है, जो इस इकाई के अगले अध्याय में बारात के संदर्भ में और स्पष्ट होगा।

5.8 उपनिवेशवाद, प्रतिनिधित्व और रथ की छवि

रथयात्रा का एक पक्ष वह भी है जो यूरोपीय दृष्टि से जुड़ा है। अंग्रेज़ी में प्रचलित शब्द जगरनॉट, जो किसी विशाल, अनियंत्रित और कुचल देने वाली शक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जगन्नाथ के नाम से ही निकला है। इसके पीछे उन यूरोपीय यात्रियों और मिशनरियों के विवरण थे जिन्होंने रथयात्रा की भीड़ को भयावह और अंधविश्वासपूर्ण रूप में चित्रित किया। यह उदाहरण दिखाता है कि जुलूस केवल अपने सहभागियों के लिए नहीं, बाहरी दर्शकों के लिए भी अर्थ रचते हैं, और बाहरी दृष्टि स्वयं औपनिवेशिक विमर्श का हिस्सा बन सकती है। अध्येता को इसलिए सदैव यह पूछना चाहिए कि कोई वर्णन किस स्थिति से किया जा रहा है।

औपनिवेशिक प्रशासन ने रथयात्रा के प्रति दोहरा रुख भी अपनाया। एक ओर वह इसे नियंत्रण का विषय मानता था, क्योंकि भीड़ का प्रबंधन उसकी चिंता थी। दूसरी ओर पुरी के मंदिर का प्रबंधन और उसकी आय पर नियंत्रण भी उसके

हित में था। इस प्रक्रिया में राजा की भूमिका घटी, पर सांस्कृतिक रूप से उसके औपचारिक अधिकार बने रहे। यह परिवर्तन और निरंतरता का वही मिश्रण है जो कुलके के लेख में रथ के स्थापत्य के विकास में भी दिखाई देता है।

5.9 अध्ययन की पद्धति पर टिप्पणी

इस अध्याय के लिए जिन स्रोतों को देखा गया, उनमें कुलके का लेख हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय के खुले संग्रह में उपलब्ध है, जबकि डैश का लेख और कोल की पुस्तक का अध्याय सीधे उपलब्ध नहीं हो सके। इसलिए कोल और डैश से संबंधित चर्चा पाठ्यक्रम के विवरण, पुस्तक की सामान्य समीक्षा-परंपरा और संबद्ध विद्वत्ता पर आधारित है। परीक्षा, शोध-पत्र या कक्षा में किसी तर्क को उद्धृत करने से पहले मूल पाठ में पृष्ठ-संख्या के साथ उसकी पुष्टि कर लेना उचित होगा। यह बात विशेष रूप से उन विशिष्ट तथ्यों के लिए आवश्यक है जो ऊपर पाठ के अंशों के आधार पर दर्ज किए गए हैं।

5.10 सारांश

इस अध्याय में हमने देखा कि भारत के धार्मिक जुलूस पवित्र स्थान को गतिमान बनाते हैं और इस गतिशीलता के माध्यम से सत्ता, पहचान और स्मृति के प्रश्न सार्वजनिक क्षेत्र में उठाते हैं। पुरी की रथयात्रा में राजा देवता का सेवक बनकर अपनी सत्ता को वैध बनाता है, और रथ का स्थापत्य मंदिर के स्थापत्य की अस्थायी प्रतिध्वनि है। रथयात्रा की उत्पत्ति पौराणिक, बौद्ध, वैदिक और क्षेत्रीय धाराओं के मिश्रण से समझी जा सकती है, पर उसका वर्तमान संगठित रूप राजसत्ता और पंथ के संबंध से बना। अवध में ताज़िया और मुहर्रम के जुलूस राज्य के संरक्षण, उलमा की परंपरा और आम लोगों की भागीदारी के संगम से बने, और बहुधर्मी भागीदारी के साथ-साथ सार्वजनिक स्थान पर तनाव के बीज भी रखते थे।

5.11 चिंतन के लिए प्रश्न

1. कुलके के अनुसार रथयात्रा में राजा की भूमिका किस प्रकार राजसत्ता की वैधता से जुड़ी है?
2. चल वास्तुकला की अवधारणा स्थायी मंदिर और अस्थायी रथ के बीच क्या संबंध स्थापित करती है?
3. रथयात्रा की उत्पत्ति पर पौराणिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणों में क्या अंतर है, और दोनों को एक साथ क्यों पढ़ा जाना चाहिए?
4. अवध में ताज़िया जुलूस राज्य, उलमा और आम जनता के संबंधों को कैसे दर्शाता है?
5. पुरी की रथयात्रा और अवध के मुहर्रम जुलूस की तुलना करते हुए पवित्र स्थान पर अधिकार के चार स्तरों का विश्लेषण कीजिए।

5.12 पाठ-सूची

- Kulke, Hermann. "Rathas and Rajas: The Car Festival at Puri." Art and Archaeology Research Papers, vol. 16 (1979), pp. 19-26; पुनर्प्रकाशित, Journal of Orissan History, vol. 1, no. 1 (1980), pp. 28-39.

- Dash, K. C. "A Study of the Origin of Ratha Yatra in the Purusottama Ksetra." (पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट; प्रकाशन-विवरण मूल पाठ्य-सूची से मिलाएँ।)
- Cole, J. R. I. Roots of North Indian Shi‘ism in Iran and Iraq: Religion and State in Awadh, 1722-1859. Berkeley: University of California Press, 1989, अध्याय 4।
- Eschmann, A., H. Kulke and G. C. Tripathi (eds.). The Cult of Jagannath and the Regional Tradition of Orissa. New Delhi: Manohar, 1978.
- Freitag, Sandria B. Collective Action and Community: Public Arenas and the Emergence of Communalism in North India. Berkeley: University of California Press, 1989.
- Jacobsen, Knut A. (ed.). South Asian Religions on Display: Religious Processions in South Asia and in the Diaspora. London: Routledge, 2008.
- Turner, Victor. The Ritual Process: Structure and Anti-Structure. Chicago: Aldine, 1969.

अध्याय 6

सामाजिक उत्सव, विवाह जुलूस और राष्ट्र-निर्माण के सार्वजनिक प्रदर्शन

भूमिका: जुलूस की दो दुनियाएँ

पिछले अध्याय में हमने देखा कि धार्मिक जुलूस पवित्र स्थान को चलायमान बनाते हैं। इस अध्याय में हम उन जुलूसों की ओर बढ़ते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक अनुष्ठान नहीं हैं, पर जिनमें सामाजिक प्रतिष्ठा, सामूहिक आनंद और राजनीतिक कल्पना की गहरी रचना होती है। इनमें एक ओर उत्तर भारतीय विवाह की बारात है, जो निजी पारिवारिक आयोजन होते हुए भी सड़क को मंच बना देती है। दूसरी ओर दो राष्ट्रीय जुलूस हैं: 1930 की गांधी की दांडी यात्रा, जो एक नागरिक अवज्ञा का पदयात्रा-रूप था, और गणतंत्र दिवस की परेड, जो स्वतंत्र भारत के राज्य द्वारा रचा गया वार्षिक राजकीय प्रदर्शन है।

पहली नज़र में इन तीनों में कोई समानता नहीं दिखती। बारात में बैंड, घोड़ी, आतिशबाज़ी और नाचती हुई भीड़ है। दांडी यात्रा में खादी पहने कुछ दर्जन सत्याग्रही हैं जो धूल भरी सड़कों पर चलते हैं। गणतंत्र दिवस परेड में टैंक, मिसाइलें और राज्यों की झाँकियाँ हैं। परंतु तीनों में एक साझा तत्व है: ये सभी सार्वजनिक स्थान को एक ऐसे मंच में बदल देते हैं जहाँ कोई समूह अपनी पहचान, प्रतिष्ठा या विचारधारा को दृश्य और श्रव्य रूप में प्रस्तुत करता है। इसी साझा तत्व के कारण पाठ्यक्रम इन तीनों को एक साथ रखता है। इस अध्याय की रचना भी इसी तुलनात्मक दृष्टि पर आधारित है।

अध्याय के दो भाग हैं। पहले भाग में ग्रेगरी डी. बूथ के लेख और उनके व्यापक शोध के आधार पर बारात में स्थान, ध्वनि, शुभता और प्रदर्शन के संबंध का विश्लेषण किया जाएगा। दूसरे भाग में सुचित्रा बालसुब्रह्मण्यम के अध्ययन के शीर्षक द्वारा संकेतित प्रश्न, अर्थात आधुनिक भारत की कल्पना में दांडी मार्च और गणतंत्र दिवस परेड की रचना, पर विचार किया जाएगा।

6.1 उत्तर भारतीय विवाह जुलूस: एक परिचय

उत्तर भारत के अधिकांश विवाहों में दूल्हा अपने परिवार, रिश्तेदारों और मित्रों के साथ जुलूस के रूप में वधू के घर या विवाह स्थल पर पहुँचता है। इसी जुलूस को बारात कहा जाता है और इसमें शामिल होने वालों को बाराती। बारात का सबसे परिचित दृश्य इस प्रकार है: दूल्हा सजी हुई घोड़ी या वाहन पर आगे बैठा है, उसके सामने या पीछे बैंड बज रहा है, रोशनी उठाए हुए लोग साथ चल रहे हैं, युवा सड़क पर नाच रहे हैं और परिवार की महिलाएँ तथा बुज़ुर्ग भीड़ के बीच चल रहे हैं। जब यह जुलूस वधू के द्वार पर पहुँचता है, तो मिलनी जैसी रस्म के साथ दोनों पक्षों का औपचारिक परिचय होता है और उसके बाद विवाह की मुख्य विधियाँ मंडप में संपन्न होती हैं।

बारात का समाजशास्त्रीय महत्व इस तथ्य में है कि यह निजी और सार्वजनिक के बीच की रेखा पर स्थित है। विवाह का मूल अनुष्ठान परिवार के भीतर, मंडप के नीचे और पुरोहित या काज़ी की उपस्थिति में होता है। परंतु बारात उस अनुष्ठान से पहले घर से बाहर की सड़क पर पूरे मोहल्ले को सूचित करती है कि एक विवाह हो रहा है। इसीलिए बारात विवाह की सार्वजनिक घोषणा है। यह परिवार की आर्थिक स्थिति, सामाजिक संबंधों और सांस्कृतिक रुचि का भी प्रदर्शन है, क्योंकि बैंड का आकार, सजावट की भव्यता और बारातियों की संख्या दर्शकों को परिवार की हैसियत का संकेत देती है।

6.2 ग्रेगरी बूथ: स्थान, ध्वनि, शुभता और प्रदर्शन

ग्रेगरी डी. बूथ का निबंध *Space, Sound, Auspiciousness, and Performance in North Indian Wedding Processions* 2008 में नट ए. जेकब्सन द्वारा संपादित पुस्तक *South Asian Religions on Display* में पृष्ठ 63 से 76 पर प्रकाशित हुआ, जिसमें दक्षिण एशिया और प्रवासी समुदायों के धार्मिक जुलूसों का अध्ययन है। इस निबंध के पूर्ण पाठ तक पहुँचना कठिन है, पर बूथ का लगभग इसी विषय पर केंद्रित प्रमुख शोध उनकी पुस्तक *Brass Baja: Stories from the World of Indian Wedding Bands* (ऑक्सफ़ोर्ड, 2005; भारतीय पेपरबैक संस्करण 2017) में विस्तार से उपलब्ध है। इसलिए इस खंड का आधार निबंध का शीर्षक और उसके अध्ययन-क्षेत्र के साथ-साथ इस पुस्तक के उपलब्ध प्रकाशक-विवरण और उद्धृत अंश हैं। निबंध के विशिष्ट वाक्यांशों के लिए मूल पाठ देखना आवश्यक है।

बूथ के अध्ययन से जो मूल बातें स्पष्ट होती हैं, वे इस प्रकार हैं। पहली, उत्तर भारत की बारातों में पेशेवर बैंड एक केंद्रीय तत्व है। पुस्तक के विवरण के अनुसार जो भी उत्तर भारत में विवाह जुलूस देख चुका है, वह जानता है कि बारात का सबसे ध्यान खींचने वाला हिस्सा अक्सर बैंड ही होता है, जो सैन्य गणवेश की याद दिलाती वर्दी में, चमकती रोशनियों के बीच दूल्हे के आगमन की घोषणा करता है। दूसरी, बैंड की संगीत-शैली यूरोपीय पीतल-वाद्य परंपरा से आई है। बूथ के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से, तुरही, क्लैरिनेट और अन्य यूरोपीय वाद्यों वाले समूहों की अगुवाई में चलने वाली बारातों में भागीदारी बढ़ती गई, और 1832 में एक प्रेक्षक ने जो जुलूस और बैंड देखा था तथा आज के जुलूसों के बीच लगभग दो सौ वर्षों का सांस्कृतिक और संगीतात्मक परिवर्तन है। तीसरी, ध्वनि और स्थान के बीच संबंध है, जिसे हम आगे विस्तार से देखेंगे।

स्थान: सड़क और जुलूस का मार्ग

बारात का मार्ग सामान्यतः वर के घर या किसी निर्धारित स्थान से शुरू होकर वधू-पक्ष के घर या विवाह-स्थल तक जाता है। यह मार्ग केवल यात्रा का साधन नहीं, एक क्रमबद्ध स्थानिक संरचना है। जुलूस के भीतर भी स्थान की व्यवस्था तय होती है: प्रायः बैंड सबसे आगे, उसके पीछे नाचते हुए युवा, फिर दूल्हा और उसके निकटतम संबंधी, और अंत में बड़े-बूढ़े और महिलाएँ। यह क्रम परिवार और समुदाय के भीतर के पदानुक्रम का प्रतिबिंब है।

सार्वजनिक सड़क का उपयोग अपने आप में अधिकार का दावा है। बारात ट्रैफ़िक को रोक देती है, मोहल्ले की सामान्य लय को बदल देती है और दर्शकों को देखने पर बाध्य कर देती है। यह दावा सामाजिक स्थिति के साथ भी जुड़ता है। भारत के कई भागों में दलित दूल्हों के घोड़ी पर चढ़कर बारात निकालने पर विरोध और हिंसा की घटनाएँ समाचारों और सामाजिक अध्ययनों में दर्ज हुई हैं। इन घटनाओं का अर्थ यह है कि सार्वजनिक स्थान पर जुलूस निकालने का अधिकार जाति-आधारित सामाजिक हैसियत से भी तय होता रहा है, और संवैधानिक समानता और व्यावहारिक सामाजिक पदानुक्रम के बीच का अंतर इन्हीं दृश्यों में उभरता है।

शहरी जीवन में स्थान का प्रश्न नए रूप लेता है। विवाह-भवन और होटल बारात को ऐसे बंद स्थान में बदल देते हैं जहाँ सड़क का हिस्सा केवल प्रवेश-द्वार तक सीमित रह जाता है। कई शहरों में बारात का मार्ग पुलिस और स्थानीय प्रशासन की अनुमति पर निर्भर होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस सड़क पर बारात निकलती है, वह साझा नागरिक स्थान है और जुलूस के अधिकार को अन्य नागरिकों के अधिकारों के साथ संतुलित करना पड़ता है।

ध्वनि: बैंड, बाजा और श्रव्य क्षेत्र

भारत में बारात की पहचान उसकी ध्वनि से है। बैंड की धुनें गली के छोर तक पहुँचकर लोगों को सूचित करती हैं कि जुलूस आ रहा है। बूथ के अध्ययन के क्षेत्र में, यानी बैंड-बाजा की दुनिया में, यह ध्वनि केवल मनोरंजन नहीं, सामाजिक घोषणा और प्रतिष्ठा का साधन है। पुस्तक के अनुसार बैंडों का मुख्य कार्य उत्सव-संगीत का उत्पादन है, जो जुलूस को प्रतिष्ठा प्रदान करता है। इसलिए बैंड का चयन इस बात का संकेत है कि परिवार कितना प्रतिष्ठित है।

बैंड के संगीत की सामग्री भी सामाजिक परिवर्तन को दर्शाती है। लोकप्रिय हिंदी फ़िल्मी गीत इस संगीत का मुख्य भंडार हैं। "आज मेरे यार की शादी है" और "बहारो फूल बरसाओ" जैसे गीत लंबे समय से बारात-संगीत के मानक माने जाते रहे हैं। जैसे-जैसे फ़िल्मों और रेडियो, फिर टेलीविज़न और अब डिजिटल माध्यमों का प्रसार हुआ, बैंड का भंडार भी बदलता गया। बूथ के पहले के शोध-लेख में भी, जो 1990 में *Ethnomusicology* पत्रिका में छपा, परंपरा, परिवर्तन और जनसंचार माध्यमों के बीच इसी संबंध पर ध्यान दिया गया है। आज बहुत से स्थानों पर डीजे के ट्रक और विशाल लाउडस्पीकर पारंपरिक बैंड को प्रतिस्थापित कर रहे हैं। इससे ध्वनि की तीव्रता और जुलूस का स्वरूप, दोनों बदल गए हैं।

ध्वनि के सार्वजनिक चरित्र के कारण इस पर कानूनी और सामाजिक विवाद भी होते हैं। भारत में ध्वनि प्रदूषण के नियम और सर्वोच्च न्यायालय के 2005 के एक महत्वपूर्ण निर्णय के बाद रात के निश्चित घंटों में लाउडस्पीकर के प्रयोग पर प्रतिबंध है, और इसके पालन की स्थिति शहरों में अलग-अलग है। यह विवाद फिर इस बात को रेखांकित करता है कि ध्वनि सार्वजनिक स्थान का साझा संसाधन है और बारात की ध्वनि जो एक परिवार के लिए शुभ है, पड़ोसी के लिए बाधा भी हो सकती है। ध्वनि को सांस्कृतिक रूप से समझने के लिए आर. मरे शेफ़र की ध्वनि-परिदृश्य की धारणा और स्टीवन फ़ेल्ड की ध्वनि-ज्ञानमीमांसा की धारणा उपयोगी हैं, जो बताती हैं कि लोग ध्वनि के माध्यम से स्थान को पहचानते और रचते हैं।

शुभता: ध्वनि और सीमांत की रचना

शुभता की धारणा हिंदू और अन्य भारतीय परंपराओं में किसी कार्य, समय या स्थान के कल्याणकारी, सौभाग्यपूर्ण होने का संकेत है। विवाह सबसे अधिक शुभ अवसरों में गिना जाता है, इसलिए उसके आस-पास की हर क्रिया में शुभता को सुनिश्चित करने का प्रयास होता है। इसमें शुभ मुहूर्त, मंगल वाद्य, दीप, फूल और अक्षत जैसे तत्व सम्मिलित हैं। लोक-मान्यता में तेज़ ध्वनि और रोशनी को अशुभ शक्तियों को दूर रखने वाला भी माना जाता है। शहनाई और नगाड़े जैसे वाद्य परंपरागत रूप से मंगल-अवसरों से जुड़े हैं, और पीतल बैंड ने नई ध्वनि-शैली में यही भूमिका निभाई।

बूथ के काम का एक अत्यंत रोचक बिंदु यह है कि बारात को अधिकांश भारतीय अनुष्ठान के रूप में नहीं देखते। पुस्तक के उद्धृत अंश के अनुसार, जबकि लगभग हर भारतीय विवाह में किसी न किसी रूप की बारात अनिवार्य-सी है, वह अपने आप में प्रायः विशिष्ट धार्मिक सामग्री से रहित होती है। इसलिए अधिकांश लोग उसे विशुद्ध उत्सव कहते हैं। जो लोग अनुष्ठान की परिभाषा को खींचकर उसमें बारात को भी शामिल करते हैं, वे भी उसे बड़े आयोजन की सीमांत क्रिया ही मानते हैं। बूथ इसे सीमांतता के अर्थ में समझते हैं: बारात घर की सुरक्षा और शुद्धता के बाहर, सड़क पर होने वाली संक्रमणकालीन घटना है, जबकि विवाह का मूल अनुष्ठान धार्मिक और विधि-आधारित व्यवहार पर केंद्रित है।

यहाँ शुभता की रचना का एक रोचक विरोधाभास सामने आता है। जो ध्वनि और जुलूस विवाह की शुभता को सार्वजनिक रूप से रचते हैं, उसे प्रस्तुत करने वाले बैंड के सदस्य स्वयं सामाजिक सीमांत पर हैं। बूथ की पुस्तक के अनुसार बैंड का संगीत उल्लास और आनंद की भावनाएँ उत्पन्न करता है, पर बैंडवाले स्वयं उन आयोजनों के किनारे पर रहते हैं जिनकी वे घोषणा करते हैं। जन्म, पेशे और संगीत की दृष्टि से बैंडवालों को निम्न सामाजिक स्थिति दी जाती है। अर्थात शुभता का उत्पादन करने वाला श्रम और उसका उपभोग करने वाला परिवार, दोनों एक ही आयोजन में अलग सामाजिक स्थानों पर हैं। यह बात भारतीय समाज में श्रम, कला और सामाजिक पदानुक्रम के संबंध पर बड़ा प्रश्न उठाती है: जिन कलाकारों के बिना शुभ अवसर पूरा नहीं होता, उन्हें प्रतिष्ठा क्यों नहीं मिलती?

प्रदर्शन: बारात एक सामाजिक नाटक

प्रदर्शन अध्ययन की दृष्टि से बारात को एक सामाजिक नाटक की तरह पढ़ा जा सकता है, जिसमें पात्र, वेशभूषा, मंच, पटकथा और दर्शक सभी मौजूद हैं। दूल्हा केंद्रीय पात्र है। उसकी शेरवानी, पगड़ी या सेहरा और सजी हुई घोड़ी उसे साधारण व्यक्ति से राजसी या देवतुल्य छवि में बदल देते हैं, जैसा कि कई लोक-व्याख्याओं में कहा जाता है कि बारात में दूल्हा राजा बन जाता है। बैंड की सैन्य-शैली की वर्दी इसी छवि को पूर्ण करती है। नर्तक इस नाटक के सहभागी दर्शक हैं, और सड़क के किनारे खड़े लोग बाहरी दर्शक।

प्रदर्शन में भागीदारी का स्तर भिन्न होता है। नाचने वाले सबसे अधिक सक्रिय हैं, पर कई लोग केवल चलते हैं, कुछ केवल देखते हैं, और कुछ, जैसे बैंडवाले और रोशनी उठाने वाले मज़दूर, श्रम करते हैं पर उत्सव में पूर्ण सहभागी नहीं माने जाते। इससे बारात का सामाजिक नक्शा स्पष्ट होता है। जुलूस के भीतर अनेक भूमिकाएँ हैं और हर भूमिका की अपनी सामाजिक कीमत है।

बदलते समय के साथ प्रदर्शन के रूप भी बदले हैं। अब बारात में फ़िल्मी शैली के नृत्य, सोशल मीडिया के लिए रिकॉर्डिंग, ड्रोन कैमरे और भव्य प्रवेश-दृश्य सामान्य हो रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि बारात का दर्शक अब केवल सड़क का समुदाय नहीं, डिजिटल दर्शक भी है। यह प्रदर्शन की सीमा को मोहल्ले से बाहर विस्तृत कर देता है और प्रतिष्ठा के संकेतों में नई प्रतिस्पर्धा जोड़ता है।

6.3 आधुनिक भारत का निर्माण: दांडी मार्च से गणतंत्र दिवस परेड तक

सुचित्रा बालसुब्रह्मण्यम का अध्ययन *Imagining the Indian Nation: The Design of Gandhi's Dandi March and Nehru's Republic Day Parade* इस सूची में दूसरे बड़े जुलूस-अध्ययन के रूप में है। शीर्षक में आया शब्द "डिज़ाइन" महत्वपूर्ण है। यह इस धारणा की ओर संकेत करता है कि दोनों जुलूस किसी संयोग से नहीं, सोची-समझी रचना से बने थे। इस लेख का पूर्ण पाठ मुझे इस शोध में सीधे उपलब्ध नहीं हो सका, इसलिए इस खंड का विश्लेषण शीर्षक, पाठ्यक्रम में दिए विवरण और दांडी तथा गणतंत्र दिवस के सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। लेखक के अपने तर्क और शब्दों के लिए मूल लेख देखना आवश्यक है।

दांडी मार्च (1930): पदयात्रा के रूप में राजनीति

12 मार्च 1930 को महात्मा गांधी ने साबरमती आश्रम से अपने चुने हुए 78 सत्याग्रहियों के साथ यात्रा आरंभ की। लगभग 24 दिनों में करीब 240 मील पैदल चलकर समूह 5 अप्रैल को गुजरात के तटीय गाँव दांडी पहुँचा। 6 अप्रैल

की सुबह गांधी ने समुद्र-तट से प्राकृतिक नमक उठाकर नमक कानून को सांकेतिक रूप से तोड़ा। इस यात्रा से पहले 2 मार्च को उन्होंने वायसराय लॉर्ड इर्विन को पत्र लिखा था, जिसमें अपनी माँगें रखी थीं और चेतावनी दी थी कि यदि वे नहीं मानी गईं तो सविनय अवज्ञा आरंभ होगी। नमक पर ब्रिटिश सरकार का एकाधिकार और कर था, जो ग़रीब से ग़रीब परिवार को प्रभावित करता था, इसलिए नमक एक ऐसा मुद्दा था जो जाति, धर्म और वर्ग से परे हर घर से जुड़ा था।

नमक के चयन में प्रतीकात्मक रचना का कौशल दिखता है। एक हालिया शोध-लेख, जो एलिसा डीकोर्सी और माइल्स टेलर ने 2023 में *South Asia: Journal of South Asian Studies* में प्रकाशित किया, यह तर्क देता है कि गांधी ने नमक को एक अलौकिक, सर्वव्यापी वस्तु के रूप में चुना, जो समय में प्राचीन अतीत तक और विस्तार में धार्मिक पहचानों के पार जाती है, और साथ ही वर्ग-भेद को भी उजागर करती है। उसी लेख में सुमति रामास्वामी की "चलने वाली सौंदर्य-दृष्टि" की धारणा के आधार पर यह भी कहा गया है कि गांधी ने विरोध को एक व्यक्ति-रूप दिया, और ब्रिटिश प्रशासन ने सेंसरशिप तथा पक्षपातपूर्ण दृश्य रिपोर्टिंग से इस छवि को दबाने का प्रयास किया। यह निष्कर्ष बालसुब्रह्मण्यम के "डिज़ाइन" के विचार के साथ मेल खाता है, क्योंकि यहाँ भी जुलूस की दृश्यता और छवि पर ही नियंत्रण का संघर्ष है।

दांडी मार्च की रचना के अनेक तत्व थे। पहला तत्व चलना था। पदयात्रा धीमी, थकाने वाली और खुली थी। इसमें हर गाँव पर रुकना, सभा करना और स्थानीय लोगों से संवाद करना शामिल था। इसलिए यह यात्रा रास्ते भर के गाँवों को राष्ट्रीय आंदोलन में जोड़ने का साधन बन गई। दूसरा तत्व दृश्य-प्रस्तुति था। गांधी का सादा वस्त्र, लाठी, खादी, भजनों का गायन और प्रार्थना सभाएँ, सब ऐसे दृश्य और ध्वनियाँ थीं जो सत्ता के सैन्य प्रदर्शन के विपरीत थीं। तीसरा तत्व अनुशासन और अहिंसा था। चुने हुए सत्याग्रहियों का अनुशासित समूह यह दिखाता था कि विरोध हिंसक भीड़ नहीं, नैतिक अनुशासन है। चौथा तत्व जनसंचार था। समाचार-पत्र, चित्रकार, फ़ोटोग्राफ़र और बाद में सिनेमा की रीलें, सबने यात्रा को देश-विदेश के दर्शकों तक पहुँचाया। यात्रा के बाद देश भर में नमक कानून तोड़ने के आंदोलन फैले, और 21 मई 1930 को धरासना में सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में सत्याग्रहियों पर हुए लाठीचार्ज की रिपोर्ट एक अमेरिकी पत्रकार द्वारा विश्व भर में पहुँची।

इन सभी तत्वों से स्पष्ट है कि दांडी मार्च केवल कर का विरोध नहीं था। वह भारतीय राष्ट्र की एक वैकल्पिक कल्पना थी, जिसमें राष्ट्र गाँव और ग़रीब के नमक से, पैदल चलते नैतिक अनुशासन से और सत्य-अहिंसा के प्रतीकों से बनता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह कल्पना किसके लिए थी और किसे बाहर छोड़ती थी। कुछ विद्वान याद दिलाते हैं कि गांधी के प्रतीक मुख्यतः हिंदू-वैष्णव शब्दावली के निकट थे और इसलिए सभी समुदायों में समान रूप से अपील नहीं करते थे, पर सत्याग्रहियों के समूह में विभिन्न प्रांतों और समुदायों के लोगों की उपस्थिति इस बहुलता की सीमित अभिव्यक्ति थी। इस तरह जुलूस का "डिज़ाइन" समावेशन और अपवर्जन, दोनों के निर्णय हैं।

गणतंत्र दिवस परेड: राज्य द्वारा रचित राष्ट्रीय प्रदर्शन

26 जनवरी का चयन स्वयं एक ऐतिहासिक संकेत है। 1929 के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का संकल्प लिया था, और 26 जनवरी 1930 को पूर्ण स्वराज दिवस के रूप में मनाया गया। जब संविधान 1950 में इसी तिथि को लागू हुआ, तो राज्य ने उसी स्वतंत्रता-आंदोलन की स्मृति को गणतंत्र के उद्घाटन से जोड़ दिया। पहली परेड 1950 में दिल्ली के इर्विन स्टेडियम में हुई, जिसमें इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णो मुख्य अतिथि थे। बाद के वर्षों में परेड राजपथ पर होने लगी, जिसका नाम 2022 में कर्तव्य पथ कर दिया गया। मुख्य अतिथि के रूप में किसी विदेशी राष्ट्राध्यक्ष को आमंत्रित करने की परंपरा परेड को विदेश-नीति का भी मंच बना देती है।

परेड की रचना में सैन्य शक्ति और सांस्कृतिक विविधता का मेल है। सशस्त्र बलों की टुकड़ियाँ, टैंक, तोपें और वायुसेना का फ्लाई-पास्ट राज्य की सुरक्षा-क्षमता को प्रदर्शित करते हैं। राज्यों और मंत्रालयों की झाँकियाँ, लोकनृत्य दल और बच्चों के कार्यक्रम देश की सांस्कृतिक विविधता को दिखाते हैं। इस रचना के ऐतिहासिक विकास का एक संकेत 1954 के एक न्यूज़रील के विवरण-पत्र में मिलता है, जो चौथी वर्षगाँठ के समारोह का वर्णन करता है और बताता है कि सेनाओं के मार्च-पास्ट के अतिरिक्त पहली बार लोकनर्तकों के दल गणतंत्र दिवस के प्रदर्शन में सम्मिलित हुए। वही विवरण लोकनृत्यों को ज़मीन से जुड़े लोगों की स्वाभाविक जीवन-शक्ति का प्रतिबिंब बताता है। इससे दिखता है कि राज्य की सांस्कृतिक नीति ने किस प्रकार विविधता को राष्ट्र के प्रतीक के रूप में गढ़ा।

नेहरूवादी भारत के संदर्भ में परेड का अर्थ आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष और बहुसांस्कृतिक राष्ट्र की छवि प्रस्तुत करना था। सैन्य तत्व यह दर्शाता था कि नया राष्ट्र अपनी रक्षा कर सकता है। सांस्कृतिक तत्व यह दर्शाता था कि यह राष्ट्र एक-रंगी नहीं, विविधताओं का संघ है। प्रदर्शन की भाषा में यह राष्ट्र "विविधता में एकता" का दृश्य-रूप है। साथ ही परेड प्रत्येक वर्ष नियमित रूप से दोहराई जाती है, इसलिए यह राष्ट्रीय स्मृति के निर्माण का अनुष्ठान भी बन जाती है, जिसमें दर्शक, चाहे सड़क के किनारे हों या टेलीविज़न के सामने, एक साझा राष्ट्रीय अनुभव में भाग लेते हैं। बेनेडिक्ट एंडरसन की कल्पित समुदाय की धारणा यहाँ उपयोगी है, क्योंकि लाखों अपरिचित लोग एक ही दृश्य को एक ही समय में देखकर एक राष्ट्र के सदस्य होने की अनुभूति करते हैं।

तुलना: दो राष्ट्रीय जुलूस, दो राष्ट्रीय कल्पनाएँ

दांडी मार्च और गणतंत्र दिवस परेड की तुलना राष्ट्र की कल्पना के दो भिन्न स्वरूपों को स्पष्ट करती है। नीचे की सारणी इस तुलना को सूत्र रूप में रखती है।

पक्ष	दांडी मार्च (1930)	गणतंत्र दिवस परेड
आयोजक	गांधी और आश्रम के सत्याग्रही, राज्य के विरुद्ध	स्वतंत्र भारत का राज्य
चाल और रूप	पैदल, धीमा, ग्रामीण मार्ग	सुनियोजित, यांत्रिक और पैदल टुकड़ियाँ, निश्चित राजमार्ग

पक्ष	दांडी मार्च (1930)	गणतंत्र दिवस परेड
वेशभूषा	खादी, सादगी, लाठी	सैन्य वर्दी, पारंपरिक राज्य-वेश, सजी झाँकियाँ
ध्वनि	भजन, प्रार्थना, सभाओं के भाषण	सैन्य बैंड, उद्घोषणा, राष्ट्रगान
शक्ति का स्वरूप	नैतिक अनुशासन और अहिंसा	सैन्य क्षमता और सांस्कृतिक विविधता
दर्शक	गाँव के लोग, प्रेस, विश्व जनमत	गणमान्य अतिथि, नागरिक, टेलीविज़न दर्शक
राष्ट्र की कल्पना	नीचे से उठता, गाँव और नमक से बना	ऊपर से रचित, राज्य और संविधान से स्थापित

इस तुलना का एक बुनियादी निष्कर्ष यह है कि दोनों जुलूस एक ही क्रिया, यानी सार्वजनिक स्थान पर चलना, को विपरीत उद्देश्यों के लिए प्रयोग करते हैं। दांडी मार्च में चलना राज्य सत्ता की अवहेलना है। गणतंत्र दिवस में चलना राज्य सत्ता का उत्सव है। एक का नैतिक बल सादगी से आता है, दूसरे का राजकीय बल भव्यता और व्यवस्था से। फिर भी दोनों सार्वजनिक स्थान को राष्ट्र की रचना का मंच बनाते हैं, और दोनों में प्रतीकों, रंगों और ध्वनियों का नियोजित चयन है।

एक और बिंदु ध्यान देने योग्य है। गणतंत्र दिवस की झाँकियाँ और लोकनृत्य राज्य की सांस्कृतिक नीति के उदाहरण हैं। इनमें विविधता को दिखाया जाता है, पर विविधता को प्रदर्शन-योग्य रूप में छाँटा भी जाता है। कौन-सी संस्कृति कैसे दिखाई जाएगी, यह निर्णय सत्ता के पास रहता है। इस दृष्टि से परेड भी चयन की राजनीति है, जैसा दांडी मार्च में सत्याग्रहियों के चयन और प्रतीकों की रचना में था। प्रदर्शन के अध्ययन का काम इसी चयन को दिखाना है।

6.4 बारात और राष्ट्रीय जुलूस: साझा सूत्र

अब यह देखा जा सकता है कि इस अध्याय की तीनों रचनाओं को एक साथ रखने का तर्क क्या है। बारात, दांडी मार्च और गणतंत्र दिवस परेड, तीनों में स्थान का नियोजन है: मार्ग, क्रम और मंच। तीनों में ध्वनि की भूमिका है: बैंड, भजन, सैन्य संगीत और उद्घोषणा। तीनों में प्रतीकात्मक वेशभूषा है: शेरवानी, खादी और सैन्य वर्दी। तीनों में दर्शकों के प्रति सजग प्रदर्शन है, जिसमें जुलूस स्वयं को दिखाते हुए अपनी वैधता गढ़ता है। इसलिए जुलूस केवल घटना नहीं, एक सांस्कृतिक रूप है, जिसके माध्यम से समाज अपने बारे में कुछ कहता है।

पर तीनों के बीच एक सूक्ष्म अंतर भी है। बारात में प्रतिष्ठा परिवार की है और उसका प्रदर्शन सामाजिक हैसियत के लिए होता है। दांडी मार्च में नैतिकता और अवज्ञा का प्रदर्शन राजनीतिक परिवर्तन के लिए है। गणतंत्र दिवस में राज्य की शक्ति और एकता का प्रदर्शन वैधता के लिए है। तीनों में शुभता, नैतिकता और राष्ट्रीयता, अलग-अलग मूल्य, प्रदर्शन के माध्यम से सार्वजनिक रूप पाते हैं। बारात से राष्ट्र की ओर बढ़ते हुए यह भी दिखता है कि निजी उत्सव के रूप, जैसे बैंड की सैन्य वर्दी, राष्ट्रीय प्रदर्शन के रूपों के साथ भी स्मृति के स्तर पर जुड़ते हैं। बूथ ने बैंड की वर्दी में सैन्य छवि का उल्लेख किया है, और यह वही दृश्य-भाषा है जो परेड में सैन्य शक्ति को प्रस्तुत करती है।

6.5 अध्ययन की पद्धति पर टिप्पणी

इस अध्याय के लिए बूथ के निबंध का पूर्ण पाठ और बालसुब्रह्मण्यम के लेख का पूर्ण पाठ सीधे उपलब्ध नहीं हो सके। इसलिए बूथ के विश्लेषण को उनकी पुस्तक *Brass Baja* के प्रकाशक-विवरण और उद्धृत अंशों के आधार पर, और बालसुब्रह्मण्यम के विश्लेषण को शीर्षक, पाठ्यक्रम-विवरण और दांडी तथा गणतंत्र दिवस के सामान्य तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। जहाँ पाठ्यक्रम की सूची में लेखकों के दावों का उल्लेख है, वहाँ भी उन्हें मूल पाठ में परख लेना उचित है। दांडी मार्च की तारीखों और संख्याओं के लिए किसी मान्य इतिहास-ग्रंथ से मिलान करना भी अच्छा अभ्यास होगा।

6.6 सारांश

इस अध्याय में हमने बारात, दांडी मार्च और गणतंत्र दिवस परेड को प्रदर्शन के रूप में पढ़ा। बारात में पीतल-वाद्य बैंड की ध्वनि, सड़क का स्थान और विवाह की शुभता मिलकर सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रदर्शन रचते हैं, जबकि बैंडवाले स्वयं सामाजिक किनारे पर रहते हैं। दांडी मार्च ने पदयात्रा, नमक और अहिंसा के प्रतीकों से राष्ट्र की एक वैकल्पिक कल्पना गढ़ी। गणतंत्र दिवस परेड ने राज्य की सैन्य शक्ति और सांस्कृतिक विविधता को मिलाकर आधुनिक भारत की छवि प्रस्तुत की। तीनों में जुलूस का स्थान, ध्वनि, वेशभूषा और दर्शक सोच-समझकर रचे गए तत्व हैं।

6.7 पाठ-सूची

- Booth, Gregory D. "Space, Sound, Auspiciousness, and Performance in North Indian Wedding Processions." In Knut A. Jacobsen (ed.), South Asian Religions on Display. London: Routledge, 2008, pp. 63-76.
- Booth, Gregory D. Brass Baja: Stories from the World of Indian Wedding Bands. New Delhi: Oxford University Press, 2005 (पेपरबैक 2017).
- Booth, Gregory D. "Brass Bands: Tradition, Change, and the Mass Media in Indian Wedding Music." Ethnomusicology 34(2), 1990.
- Balasubrahmanyan, Suchitra. "Imagining the Indian Nation: The Design of Gandhi's Dandi March and Nehru's Republic Day Parade." (पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट; प्रकाशन-विवरण मूल पाठ्य-सूची से मिलाएँ।)
- deCourcy, Elisa and Miles Taylor. "Salt and the National Imaginary: The Photojournalism of the Dandi Satyagraha." South Asia: Journal of South Asian Studies

46(4), 2023, pp. 820-833.

- Anderson, Benedict. Imagined Communities. London: Verso, 1983.
- Schafer, R. Murray. The Soundscape. Rochester: Destiny Books, 1994.
- Feld, Steven. "Waterfalls of Song: An Acoustemology of Place Resounding in Bosavi." In Feld and Basso (eds.), Senses of Place. Santa Fe: School of American Research Press, 1996.

इकाई IV: अवकाश: मन, शरीर और राष्ट्र

अध्याय 7

शरीर, शारीरिक संस्कृति और खेल की उत्पत्ति

भूमिका: अवकाश क्या है

अवकाश शब्द सुनते ही अधिकांश लोग छुट्टी, आराम या खाली समय के बारे में सोचते हैं। पाठ्यक्रम की इस इकाई का आरंभिक सूत्र इसी सामान्य समझ को दो हिस्सों में बाँटता है। एक अर्थ में अवकाश विश्राम, शिथिलता या निष्क्रियता है, यानी वह समय जब व्यक्ति काम से अलग होकर थकान उतारता है। दूसरे अर्थ में अवकाश रूपांतरणकारी हो सकता है, यानी ऐसी गतिविधि जिसमें व्यक्ति सोचने, करने और होने की नई अनुभूति विकसित करता है। इन दोनों के बीच कोई अनिवार्य विरोध नहीं है, और न ही अवकाश श्रम का सीधा विपरीत है। योग, शतरंज और कलरीपयट्टु जैसी गतिविधियाँ इसी द्वंद्व पर खड़ी हैं: वे एक साथ खेल या अभ्यास भी हैं, मनोरंजन भी, और आत्म-निर्माण की साधना भी।

अवकाश के इस द्विविध अर्थ की जड़ें दार्शनिक परंपरा में गहरी हैं। अरस्तू ने जिसे यूनानी भाषा में स्कोले कहा, जिससे अंग्रेज़ी का स्कूल शब्द निकला, वह केवल आराम नहीं बल्कि चिंतन और आत्म-विकास का समय था। बीसवीं सदी में जोज़ेफ़ पीपर ने अपनी पुस्तक *Leisure: The Basis of Culture* में यह तर्क दिया कि अवकाश एक मानसिक और आत्मिक अवस्था है, केवल खाली घंटे नहीं। समाजशास्त्र में रॉबर्ट स्टेबिन्स ने गंभीर अवकाश की धारणा दी, जिसमें शौकिया लोग किसी कौशल को वर्षों तक गहराई से साधते हैं। इन सभी विचारों में अवकाश का अर्थ निष्क्रियता से आगे बढ़कर सक्रिय और रचनात्मक अनुभव तक जाता है।

भारतीय संदर्भ में यह चर्चा और रोचक हो जाती है, क्योंकि यहाँ अनेक शारीरिक और बौद्धिक अभ्यास, जैसे योग या शतरंज, एक साथ धार्मिक साधना, युद्ध-कौशल, क्रीड़ा और मनोरंजन से जुड़े रहे हैं। उनकी यात्रा भी विशेष है: वे अपने उद्गम स्थान से निकलकर दूसरे समाजों में गए और वहाँ नए अर्थ पाकर लौटे। यही कारण है कि पाठ्यक्रम इस अध्याय में तीन अध्ययनों को साथ रखता है। थर्स्टन और ब्लोयस का लेख योग के वैश्विक अवकाश-गतिविधि बनने की प्रक्रिया पर है। स्टीफन हिलियर लेविट का लेख शतरंज की दक्षिण एशियाई उत्पत्ति और अर्थ पर है। फिलिप ज़र्रिल्ली का लेख केरल की युद्धकला कलरीपयट्टु में शरीर की तीन अवधारणाओं पर है।

7.1 विश्राम की खोज: योग का वैश्विक रूपांतरण

मिरांडा थर्स्टन और डैनियल ब्लोयस के लेख का शीर्षक *A Quest for Relaxation? A Figurational Analysis of the Transformation of Yoga into a Global Leisure Time Phenomenon* है। लेख के पाठ तक मुझे इस शोध में सीधी पहुँच नहीं मिली, इसलिए यहाँ विश्लेषण शीर्षक, उसके सैद्धांतिक ढाँचे, पाठ्यक्रम के विवरण और योग के आधुनिक इतिहास पर उपलब्ध व्यापक शोध पर आधारित है। लेखकों के अपने निष्कर्षों के लिए मूल पाठ देखना आवश्यक है।

आकृतिपरक विश्लेषण: एलियास की दृष्टि

शीर्षक में प्रयुक्त आकृतिपरक विश्लेषण नॉर्बर्ट एलियास की समाजशास्त्रीय परंपरा से जुड़ा है। एलियास का मूल तर्क यह है कि समाज को व्यक्ति बनाम समूह के रूप में नहीं, अन्योन्याश्रित मानवों के बदलते जाल, यानी आकृति, के रूप में देखना चाहिए। उन्होंने सभ्यता की प्रक्रिया की अवधारणा दी, जिसमें लंबे समय में लोग अपनी भावनाओं और व्यवहार को अधिक नियंत्रित करना सीखते हैं। एलियास और एरिक डनिंग की पुस्तक *Quest for Excitement* में यह तर्क दिया गया कि आधुनिक समाज में खेल और अवकाश-गतिविधियाँ ऐसा स्थान देती हैं जहाँ नियंत्रित रूप में उत्साह और भावनात्मक उत्तेजना की खोज संभव होती है। थर्स्टन और ब्लोयस के शीर्षक में "विश्राम की खोज" इसी पुस्तक के शीर्षक की ओर संकेत करता है, और प्रश्नचिह्न यह पूछता है कि क्या योग वास्तव में केवल विश्राम की खोज है, या उसका अर्थ अधिक जटिल है।

आकृतिपरक दृष्टि का लाभ यह है कि वह योग के रूपांतरण को केवल किसी एक गुरु या एक संस्था के प्रयास के रूप में नहीं देखती। वह पूछती है कि किन सामाजिक परिस्थितियों में, किन लोगों के बीच संबंधों के बदलने से, योग एक आध्यात्मिक अभ्यास से वैश्विक अवकाश-गतिविधि में बदला। इस प्रक्रिया में शहरीकरण, कार्य-जीवन का तनाव, स्वास्थ्य और शरीर के प्रति बदलती दृष्टि, यात्रा और जनसंचार सब शामिल हैं।

योग की परंपरा और उसका आधुनिक रूपांतरण

पारंपरिक योग का अर्थ चित्त की वृत्तियों के निरोध की साधना है, जैसा पतंजलि के योगसूत्र में कहा गया है। इस ग्रंथ का काल प्रायः दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से चौथी शताब्दी ईस्वी के बीच माना जाता है, और उसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के अष्टांग मार्ग का वर्णन है। इस ढाँचे में आसन का स्थान अपेक्षाकृत छोटा है। उसका प्रयोजन ध्यान के लिए शरीर को स्थिर और सुखद बनाना है। मध्यकाल में हठयोग की परंपरा में, जैसे हठयोगप्रदीपिका जैसे ग्रंथों में, आसन और प्राणायाम पर ज़ोर बढ़ा। परंतु आज दुनिया भर में जिसे योग-कक्षा के रूप में जाना जाता है, वह प्रायः आसन-केंद्रित व्यायाम है, जो इन परंपरागत रूपों से काफ़ी भिन्न है।

इस रूपांतरण के कई चरण विद्वानों ने रेखांकित किए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में स्वामी विवेकानंद ने 1893 में शिकागो की धर्म संसद के बाद पश्चिम में योग को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया, और उनकी पुस्तक *Raja Yoga* (1896) ने योग को आधुनिक तर्कसंगत भाषा में समझाया। बीसवीं सदी में कृष्णमाचार्य और उनके शिष्यों, जैसे बी. के. एस. आयंगर और पट्टाभि जोइस, ने आसन-आधारित योग के आधुनिक रूप विकसित किए। आयंगर की पुस्तक *Light on Yoga* (1966) ने इसे दुनिया भर में लोकप्रिय बनाया। इसी बीच महर्षि महेश योगी का ध्यान-आंदोलन 1960 के दशक में बीटल्स जैसे संगीतकारों से जुड़कर पश्चिमी लोकप्रिय संस्कृति में पहुँचा। मार्क सिंगलटन ने अपनी पुस्तक *Yoga Body* (2010) में यह तर्क दिया कि आधुनिक आसन-केंद्रित योग के विकास में उपनिवेशकालीन भारत में प्रचलित पश्चिमी शारीरिक-संस्कृति की परंपराओं, जैसे जिम्नास्टिक, का भी योगदान था। जोसेफ़ ऑल्टर की पुस्तक *Yoga in Modern India* (2004) ने भी योग के विज्ञान और स्वास्थ्य के साथ जुड़ाव की व्याख्या की है।

इन अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि योग का वैश्विक रूपांतरण एकतरफ़ा प्रक्रिया नहीं थी। भारत और पश्चिम के बीच विचारों और अभ्यासों का आदान-प्रदान हुआ, और जिसे आज परंपरागत योग कहा जाता है, उसमें भी आधुनिक तत्व मिले हुए हैं। इस संदर्भ में एक संपादित ग्रंथ *Yoga Traveling: Bodily Practice in Transcultural*

Perspective (2014) यह प्रश्न उठाता है कि योग के विविध रूप किन प्रेरणाओं और माध्यमों से फैले, और नए संदर्भों में स्थानांतरित होकर उसे किस आधार पर भारतीय योग कहा जाता रहता है। यही प्रश्न पाठ्यक्रम की इस इकाई की भावना के अनुरूप है।

विश्राम से रूपांतरण तक

पाठ्यक्रम की भूमिका में अवकाश के दो अर्थ दिए गए हैं, और योग का उदाहरण इन दोनों को जोड़ता है। एक ओर आधुनिक योग-कक्षा थकान दूर करने, तनाव घटाने और स्वास्थ्य सुधारने का साधन है, यानी विश्राम और वेलनेस की गतिविधि। दूसरी ओर बहुत से अभ्यासकर्ताओं के लिए योग आत्म-बोध और जीवन-दृष्टि का रूपांतरण है। इस प्रश्न पर हाल के अनुभवजन्य अध्ययन भी मिलते हैं। एक शोध-प्रबंध में, जो मध्य-आयु की महिला योग-अभ्यासकर्ताओं की जीवन-अनुभूतियों पर केंद्रित है, स्वयं की बदलती अनुभूति, मानवीय और स्थानिक जुड़ाव, और बढ़ती उम्र की चुनौतियों जैसे विषय उभरे हैं, और यह भी कि घर में ऑनलाइन अभ्यास के कारण स्थान और जगह के अर्थ बदल रहे हैं। यह उदाहरण दिखाता है कि योग अवकाश के रूप में केवल आराम नहीं, रूपांतरण का अनुभव भी देता है।

सरकारी और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर योग का संस्थागत उत्थान भी इस प्रक्रिया का हिस्सा है। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने दिसंबर 2014 में 21 जून को अंतरराष्ट्रीय योग दिवस घोषित किया, और पहला योग दिवस 2015 में मनाया गया। भारत में आयुष मंत्रालय का गठन 2014 में हुआ और योग को राष्ट्रीय स्वास्थ्य और सांस्कृतिक पहचान, दोनों के रूप में प्रचारित किया गया। यह भी इसी आकृति का भाग है: योग अब केवल निजी साधना नहीं, राज्यों और संस्थाओं की सांस्कृतिक नीति और कूटनीति का साधन भी है।

आलोचनात्मक दृष्टि से कुछ प्रश्न उठते हैं। जब योग उपभोक्ता-बाज़ार का हिस्सा बन जाता है, तो उसके साधनात्मक पक्ष का क्या होता है? वाणिज्यीकरण में स्टूडियो, परिधान और प्रमाणपत्र जैसी चीज़ें योग की पहचान के हिस्से बन जाती हैं। कुछ अध्ययनों ने इसे स्व-देखभाल के वस्तुकरण का उदाहरण माना है। साथ ही यह भी प्रश्न है कि भारत के भीतर किन सामाजिक समूहों के लिए योग अवकाश का साधन है, क्योंकि अवकाश की उपलब्धता स्वयं वर्ग, लिंग और समय की उपलब्धता पर निर्भर करती है। इसलिए अवकाश का अध्ययन सामाजिक असमानता के अध्ययन से अलग नहीं हो सकता।

7.2 शतरंज का दक्षिण एशियाई उद्भव और अर्थ

स्टीफन हिलियर लेविट का लेख *Chess: Its South Asian Origin and Meaning* शतरंज की उत्पत्ति और उसके सांस्कृतिक अर्थ की पड़ताल करता है। इस लेख का पूर्ण पाठ मुझे सीधे उपलब्ध नहीं हो सका, इसलिए यहाँ चर्चा पाठ्यक्रम-विवरण और शतरंज के इतिहास पर प्रचलित विद्वत्तापूर्ण सहमति पर आधारित है। लेविट के विशिष्ट तर्कों और व्याख्याओं के लिए मूल लेख देखना आवश्यक है।

चतुरंग से शतरंज तक

शतरंज के इतिहास में सामान्यतः माना जाता है कि इसका प्राचीन रूप भारत में विकसित हुआ और उसे चतुरंग कहा गया। चतुरंग शब्द का अर्थ चार अंगों वाली सेना है, जो प्राचीन भारतीय सैन्य व्यवस्था की चार शाखाओं, यानी हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक, को दर्शाता है। खेल के मोहरे इन्हीं शाखाओं के प्रतीक थे। सातवीं शताब्दी के बाणभट्ट के

हर्षचरित में चतुरंग खेल का संदर्भ मिलता है, और इसी के आसपास फ़ारस में इसके प्रसार के संकेत मिलते हैं। फ़ारसी रूप चतरंग, फिर अरबी रूप शतरंज बना, और मध्यकाल में अरब विजय और व्यापारिक संपर्कों के साथ यह खेल यूरोप पहुँचा, जहाँ उसने आधुनिक शतरंज का रूप लिया। इस यात्रा के दौरान मोहरों के नाम और चालें भी बदलती रहीं। उदाहरण के लिए अंग्रेज़ी का रुक, जो भारतीय रथ का स्थानीय रूपांतरण माना जाता है, इस भाषाई यात्रा का एक चिह्न है।

उत्पत्ति के प्रश्न पर विद्वानों में सहमति के साथ कुछ विवाद भी हैं। कुछ का मानना है कि चौसर जैसे प्राचीन भारतीय बोर्ड खेलों से संबंधित अष्टापद नामक अष्ट-आठ पट्ट के खेल और चतुरंग के बीच संबंध था। इतिहासकारों ने यह भी चर्चा की है कि चतुरंग शुरू में कितने खिलाड़ियों का खेल था और उसमें पासों की भूमिका थी या नहीं। इन प्रश्नों पर अंतिम निर्णय कठिन है, क्योंकि प्राचीन स्रोत सीमित हैं और बाद की व्याख्याएँ अक्सर अनुमान पर आधारित हैं। इसलिए अध्येता को यहाँ निश्चयात्मक दावों से बचना चाहिए।

अर्थ: खेल, युद्ध और बुद्धि

पाठ्यक्रम के विवरण के अनुसार लेविट के लेख का एक महत्वपूर्ण पक्ष शतरंज का अर्थ है, यानी उसका सांस्कृतिक और रणनीतिक गतिविधि के रूप में उद्भव। सरल रूप में कहें तो शतरंज एक ऐसा युद्ध है जिसमें रक्त नहीं बहता। उसमें वास्तविक सेना के स्थान पर प्रतीकात्मक सेना है, और जीत सैन्य बल से नहीं बौद्धिक कौशल से मिलती है। इसलिए शतरंज को अक्सर राजाओं और अभिजात वर्ग की शिक्षा का हिस्सा माना गया। यह खेल रणनीति, धैर्य और पूर्वानुमान जैसे गुणों के अभ्यास का साधन था। इस अर्थ में शतरंज अवकाश भी है और प्रशिक्षण भी, यानी खेल और गंभीर कर्म के बीच की रेखा धुँधली हो जाती है।

शतरंज का अर्थ संस्कृति के अनुसार बदलता भी रहा। फ़ारसी और अरबी परंपरा में उसने साहित्य, दर्शन और जुए के निषेध जैसे प्रश्नों से जुड़कर अपने अर्थ पाए। मध्यकालीन यूरोप में मोहरों को सामाजिक वर्गों के रूप में पढ़ा जाने लगा, और रानी का शक्तिशाली होना वहीं के संदर्भ में विकसित हुआ। भारत में लौटकर इस खेल ने औपनिवेशिक काल में फिर नए अर्थ पाए। इस तरह किसी खेल का अर्थ कोई स्थिर चीज़ नहीं है। वह यात्रा करता है और प्रत्येक समाज में स्थानीय मूल्यों के साथ घुल-मिल जाता है।

आधुनिक भारत में शतरंज की स्थिति इसी यात्रा का एक अगला चरण है। विश्वनाथन आनंद 1988 में भारत के पहले ग्रैंडमास्टर बने और बाद में विश्व चैंपियन भी, और उनके उदय ने देश में शतरंज के प्रति रुचि बढ़ाई। दिसंबर 2024 में डी. गुकेश विश्व शतरंज चैंपियनशिप जीतने वाले सबसे कम उम्र के खिलाड़ी बने, और उसी वर्ष बुडापेस्ट के शतरंज ओलंपियाड में भारत ने पुरुष और महिला, दोनों वर्गों में स्वर्ण पदक जीते। इन घटनाओं ने शतरंज को भारतीय राष्ट्रीय गौरव की कथा से जोड़ दिया है, और साथ ही यह प्रश्न उठता है कि प्राचीन उत्पत्ति के दावे आज की राष्ट्रीय पहचान की राजनीति में किस तरह प्रयोग होते हैं।

7.3 पारंपरिक दक्षिण भारतीय युद्धकला में अभ्यास के तीन शरीर: फिलिप ज़र्रिल्ली

फिलिप बी. ज़र्रिल्ली का लेख *Three Bodies of Practice in a Traditional South Indian Martial Art* 1989 में *Social Science and Medicine* पत्रिका के खंड 28, अंक 12 में पृष्ठ 1289 से 1309 पर प्रकाशित

हुआ। इसका सारांश उपलब्ध है, और उसके आधार पर इस खंड का विश्लेषण अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ है, यद्यपि लेख के पूर्ण पाठ के सूक्ष्म तर्क मूल पाठ में ही देखे जाने चाहिए।

लेख का केंद्रीय तर्क

सारांश के अनुसार यह लेख केरल की युद्ध-परंपरा कलरीपयट्टु में शरीर की तीन परस्पर जुड़ी अवधारणाओं का वर्णन करता है। लेखक यह भी देखता है कि प्राचीन ग्रंथों में दर्ज अवधारणाओं और आज के अभ्यास के बीच प्रत्येक शरीर के संदर्भ में क्या निरंतरताएँ और क्या विच्छेद हैं। पहले दो शरीरों की अवधारणाएँ और अभ्यास केरल की आयुर्वेद परंपरा पर आधारित हैं। तीसरी अवधारणा अभ्यास का एक अनुभवजन्य नक्शा देती है और ध्यान की उच्च अवस्थाओं की आधार है।

इन तीन शरीरों को समझने के लिए सारांश की बातों को सूत्र रूप में रखा जा सकता है। पहला शरीर वह है जो लंबे अभ्यास से तरल या लचीला बनता है, जिससे दोषों, यानी शरीर के द्रव-तत्वों, में स्वास्थ्यकर सामंजस्य उत्पन्न होता है। इसका व्यावहारिक रूप कलरीपयट्टु में मौसम के अनुसार किया जाने वाला तेल-मालिश और कठोर शारीरिक प्रशिक्षण है, जिसे मलयालम में उळिच्चिल कहा जाता है। दूसरा शरीर मर्म, यानी जीवन-बिंदुओं, का शरीर है। अभ्यास से इन बिंदुओं का सहज और व्यावहारिक ज्ञान मिलता है, जो युद्ध में प्रहार और चोट के उपचार, दोनों में उपयोगी है। तीसरा शरीर सूक्ष्म शरीर है, जिसके शुद्ध होने से आंतरिक प्राण-वायु जागृत होती है, जो गुरु की शक्ति के रूप में युद्ध या चिकित्सा में प्रकट होती है।

ज़र्रिल्ली की बाद की पुस्तक *When the Body Becomes All Eyes: Paradigms, Discourses and Practices of Power in Kalarippayattu, a South Indian Martial Art* (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998) इस लेख की अवधारणाओं को विस्तार देती है। पुस्तक की विषय-सूची में "पहले बाहरी रूप" शीर्षक का अध्याय स्थूल शरीर और अभ्यास के आरंभिक फलों पर है, और "फिर आंतरिक रहस्य" शीर्षक का अध्याय सूक्ष्म शरीर, प्राण-वायु और शक्ति पर। पुस्तक का शीर्षक मलयालम की एक लोकोक्ति से लिया गया है, जिसका अर्थ आदर्श अभ्यासकर्ता के शरीर का आँखों से भर जाना है, यानी पूर्ण सजगता। ज़र्रिल्ली की समीक्षाओं में कहा गया है कि वे कलरीपयट्टु को केवल युद्ध-व्यायाम या युद्ध-योग नहीं मानते, बल्कि अनुष्ठान, चिकित्सा और मनो-आध्यात्मिक अनुभव के विमर्शों के भीतर रखकर समझते हैं, और शरीर-मन की अविभाजित धारणा पर ज़ोर देते हैं।

कलरीपयट्टु: स्थान, अनुष्ठान और अभ्यास

कलरीपयट्टु का नाम कलरी, यानी अभ्यास-स्थल, और पयट्टु, यानी युद्ध या अभ्यास, से बना है। कलरी का भौतिक स्वरूप स्वयं पवित्र स्थान की संरचना है। अभ्यास का मैदान प्रायः ज़मीन में खोदा गया गड्ढा होता है, जिसकी मिट्टी की फ़र्श पर नंगे पाँव अभ्यास किया जाता है। कलरी के दक्षिण-पश्चिम कोने में देवताओं की स्थापना होती है, और विद्यार्थी अभ्यास आरंभ करने से पहले वहाँ प्रणाम करते हैं। पाठ्य-सूची की पुस्तक के अध्याय-शीर्षकों में कलरी के देवताओं और उसके अनुष्ठान-जीवन का उल्लेख है, जो दिखाता है कि अभ्यास का शारीरिक पक्ष अनुष्ठानिक सुरक्षा और सशक्तिकरण से अलग नहीं है।

प्रशिक्षण का क्रम सामान्यतः शारीरिक मुद्राओं और प्रहार-रक्षा के अभ्यासों से शुरू होकर लकड़ी की छड़ी से अभ्यास तक, फिर धातु के शस्त्रों तक, और अंत में खाली हाथ और मर्म-ज्ञान तक पहुँचता है। इस क्रम में शरीर क्रमशः अधिक सूक्ष्म नियंत्रण पाता है। यह क्रम पहले, दूसरे और तीसरे शरीर की ओर बढ़ने की यात्रा जैसा है: पहले शारीरिक तैयारी और लचीलापन, फिर विशेष बिंदुओं का ज्ञान, और अंत में आंतरिक ऊर्जा और ध्यान। इसलिए अभ्यास केवल शारीरिक कौशल की सीढ़ी नहीं, आत्म-रूपांतरण की प्रक्रिया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से कलरीपयट्टु की परंपरा का इतिहास विवादित और स्मृति-आधारित है। परंपरा-कथाएँ इसे परशुराम से जोड़ती हैं। इतिहासकारों के अनुसार इसकी जड़ें मध्यकालीन केरल की युद्ध-व्यवस्था में थीं, जहाँ स्थानीय सत्ता-संरचनाओं में योद्धा-वर्ग विशेष भूमिका रखता था। उपनिवेशकाल में, विशेषकर उन्नीसवीं सदी के आरंभ में, ब्रिटिश प्रशासन ने इसे हतोत्साहित किया, और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में स्थानीय कलाओं के प्रति बढ़ती रुचि के साथ इसका पुनरुद्धार हुआ। ज़र्रिल्ली की पुस्तक में "अतीत के आविष्कार" का अध्याय यह दिखाता है कि परंपरा का इतिहास स्वयं वर्तमान में रचा जाता है। यह धारणा एरिक हॉब्सबॉम और टेरेंस रेंजर के परंपराओं के आविष्कार के विचार से जुड़ती है।

शरीर का समाजशास्त्र: अभ्यास का सैद्धांतिक आधार

ज़र्रिल्ली के अध्ययन को समझने के लिए शरीर के समाजशास्त्र और मानवशास्त्र की कुछ अवधारणाएँ उपयोगी हैं। मार्सेल मॉस ने 1935 के अपने प्रसिद्ध निबंध में शरीर की तकनीकों की धारणा दी, जिसके अनुसार चलना, तैरना और बैठना जैसी शारीरिक क्रियाएँ भी सांस्कृतिक रूप से सीखी जाती हैं। पियर बूर्दिए की हैबिटस की धारणा बताती है कि सामाजिक संरचनाएँ शरीर में बस जाती हैं, और बार-बार के अभ्यास से शरीर सामाजिक रूप से गढ़ा जाता है। थॉमस सॉर्डास की देहधारण की अवधारणा शरीर को अनुभव की जगह मानती है। कलरीपयट्टु में तीन शरीरों की अवधारणा इन्हीं विचारों से संवाद करती है: यहाँ शरीर केवल जैविक नहीं, ग्रंथों, गुरुओं, तेल-मालिश और अनुष्ठानों से निर्मित एक सांस्कृतिक रचना भी है।

यह अध्ययन अवकाश की उस द्विविध धारणा से भी जुड़ता है जो इस इकाई की भूमिका में दी गई है। यदि अवकाश रूपांतरणकारी हो सकता है, तो कलरीपयट्टु उसका अच्छा उदाहरण है, क्योंकि उसका अभ्यास वर्षों में व्यक्ति का आत्म-बोध बदलता है। पर यह भी स्पष्ट है कि इसे सामान्य अर्थ में अवकाश-गतिविधि कहना कठिन है। इसमें अनुशासन, गुरु-शिष्य संबंध और अनुष्ठानिक कर्तव्य हैं, जो इसे कार्य और साधना के निकट ले जाते हैं। इस तरह ज़र्रिल्ली का अध्ययन अवकाश और श्रम के बीच विभाजन की सरलता पर प्रश्नचिह्न लगाता है, जो पाठ्यक्रम की इस इकाई का एक मूल उद्देश्य भी है।

7.4 तुलनात्मक विश्लेषण: योग, शतरंज और कलरीपयट्टु

तीनों अभ्यासों को साथ रखने पर यात्रा, शरीर और अर्थ के प्रश्न तीन आयामों में सामने आते हैं। पहला आयाम उत्पत्ति और स्थानांतरण का है। योग और शतरंज दोनों भारत से बाहर गए और वहाँ से नए रूप में लौटे या वैश्विक बने। कलरीपयट्टु अपेक्षाकृत स्थानीय परंपरा रही है, यद्यपि हाल के दशकों में नाट्य-प्रशिक्षण और पर्यटन के माध्यम से उसका अंतरराष्ट्रीय प्रसार भी हुआ है। दूसरा आयाम शरीर और मन के संबंध का है। योग शरीर और मन के सामंजस्य का साधन है, शतरंज शरीर को स्थिर रखकर मन को सक्रिय करता है, और कलरीपयट्टु शरीर के भीतर मन की अनुभूति

विकसित करता है, जिसे ज़र्रिल्ली शरीर-मन कहते हैं। तीसरा आयाम सामाजिक संस्थाओं का है, क्योंकि प्रत्येक अभ्यास की अपनी संस्थाएँ हैं: योग के स्टूडियो और गुरुकुल, शतरंज की प्रतियोगिताएँ और संघ, कलरीपयट्टु की कलरी और गुरुक्कल।

पक्ष	योग	शतरंज	कलरीपयट्टु
मूल संदर्भ	आध्यात्मिक साधना, हठयोग परंपरा	चतुरंग, सैन्य रणनीति का प्रतीकात्मक रूप	केरल की युद्ध और चिकित्सा परंपरा
शरीर की भूमिका	आसन और प्राणायाम के माध्यम से साधन	गौण, बैठा हुआ शरीर	केंद्रीय, तीन शरीरों की अवधारणा
वैश्विक यात्रा	वेलनेस और फ़िटनेस उद्योग, अंतरराष्ट्रीय दिवस	फ़ारस, अरब और यूरोप से होकर आधुनिक खेल	सीमित, नाट्य और सांस्कृतिक प्रसार
अवकाश का स्वरूप	विश्राम और रूपांतरण, दोनों	बौद्धिक मनोरंजन और प्रतियोगिता	साधना, अनुशासन और रूपांतरण
आधुनिक सामाजिक संदर्भ	बाज़ार और राज्य की सांस्कृतिक नीति	राष्ट्रीय गौरव और प्रतियोगी खेल	पुनरुद्धार और सांस्कृतिक विरासत

इस तुलना से एक निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय शारीरिक और बौद्धिक अभ्यासों का अध्ययन उत्पत्ति की खोज तक सीमित नहीं रह सकता। प्रत्येक अभ्यास की यात्रा में उसके अर्थ बदले हैं और बदलते रहेंगे। इसलिए यह पूछना उतना ही आवश्यक है कि आज इन अभ्यासों को कौन किसलिए अपनाता है, जितना यह कि ये कहाँ से आए। साथ ही यह भी दिखता है कि जब किसी अभ्यास को राष्ट्र की गौरवशाली विरासत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब उसके इतिहास की जटिलता और विवादित पक्षों को सरलीकृत करने का जोखिम रहता है।

7.5 अध्ययन की पद्धति पर टिप्पणी

इस अध्याय के लिए तीनों अध्ययनों में से केवल ज़र्रिल्ली के लेख का सारांश सीधे उपलब्ध हो सका। थर्स्टन और ब्लोयस तथा लेविट के लेखों का पूर्ण पाठ या सारांश नहीं मिल सका, इसलिए उन पर आधारित खंडों में विश्लेषण पाठ्यक्रम के विवरण, शीर्षकों और उनसे जुड़ी व्यापक विद्वत्ता पर टिका है। परीक्षा या शोध में इन लेखकों के विशिष्ट तर्कों को उद्धृत करने से पहले मूल पाठ देखना आवश्यक है। इसी प्रकार योग और शतरंज के इतिहास की तिथियाँ और संख्याएँ मान्य संदर्भ-ग्रंथों से मिला लेना अच्छा अभ्यास होगा।

7.6 सारांश

इस अध्याय में हमने अवकाश की द्विविध धारणा, यानी विश्राम और रूपांतरण, के संदर्भ में योग, शतरंज और कलरीपयट्टु का अध्ययन किया। योग पारंपरिक साधना से वैश्विक अवकाश और वेलनेस गतिविधि बना, और इस रूपांतरण को आकृतिपरक समाजशास्त्र की दृष्टि से समझा जा सकता है। शतरंज चतुरंग से फ़ारस, अरब और यूरोप होते हुए आधुनिक वैश्विक खेल बना और भारत में फिर राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक बन रहा है। कलरीपयट्टु शरीर की तीन अवधारणाओं, यानी तरल शरीर, मर्म का शरीर और सूक्ष्म शरीर, के माध्यम से शारीरिक अभ्यास को आयुर्वेद, अनुष्ठान और ध्यान से जोड़ता है। तीनों उदाहरण दिखाते हैं कि अवकाश, श्रम और साधना के बीच की रेखाएँ जितनी सरल लगती हैं, उतनी हैं नहीं।

7.7 पाठ-सूची

- Thurston, Miranda and Daniel Bloyce. "A Quest for Relaxation? A Figurational Analysis of the Transformation of Yoga into a Global Leisure Time Phenomenon." (पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट; प्रकाशन-विवरण मूल पाठ्य-सूची से मिलाएँ।)
- Levitt, Stephan Hillyer. "Chess: Its South Asian Origin and Meaning." (पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट; प्रकाशन-विवरण मूल पाठ्य-सूची से मिलाएँ।)
- Zarrilli, Phillip B. "Three Bodies of Practice in a Traditional South Indian Martial Art." Social Science and Medicine 28(12), 1989, pp. 1289-1309.
- Zarrilli, Phillip B. When the Body Becomes All Eyes: Paradigms, Discourses and Practices of Power in Kalarippayattu, a South Indian Martial Art. New Delhi: Oxford University Press, 1998.
- Elias, Norbert and Eric Dunning. Quest for Excitement: Sport and Leisure in the Civilizing Process. Oxford: Blackwell, 1986.
- Singleton, Mark. Yoga Body: The Origins of Modern Posture Practice. New York: Oxford University Press, 2010.
- Alter, Joseph S. Yoga in Modern India: The Body between Science and Philosophy. Princeton: Princeton University Press, 2004.
- Pieper, Josef. Leisure: The Basis of Culture. 1948 (अंग्रेज़ी अनुवाद, 1952).
- Stebbins, Robert A. Serious Leisure: A Perspective for Our Time. New Brunswick: Transaction, 2007.
- Mauss, Marcel. "Techniques of the Body." Economy and Society 2(1), 1973 (मूल 1935).
- Hobsbawm, Eric and Terence Ranger (eds.). The Invention of Tradition. Cambridge: Cambridge University Press, 1983.
- Baumann, Martin et al. (eds.). Yoga Traveling: Bodily Practice in Transcultural Perspective. Cham: Springer, 2014.

अध्याय 8

खेल, औपनिवेशिक राजनीति और आधुनिक राष्ट्र-राज्य

भूमिका: एक विदेशी खेल, एक अपना खेल

भारत में क्रिकेट की लोकप्रियता को देखकर यह भूल जाना आसान है कि यह खेल इस देश में औपनिवेशिक शासकों के साथ आया था। जो खेल अंग्रेज़ों की सांस्कृतिक पहचान का हिस्सा था, वह भारतीयों के हाथ में जाकर राष्ट्रीय भावना, सामुदायिक प्रतिस्पर्धा और जातिगत संघर्ष का अखाड़ा कैसे बन गया, यह प्रश्न इस अध्याय का केंद्र है। इसी प्रश्न के भीतर एक बड़ा सैद्धांतिक प्रश्न भी बैठा है: क्या शासक की संस्कृति को अपनाना उसके सामने समर्पण है, या उसे अपने उद्देश्यों के लिए पलट देना?

पिछले अध्याय में हमने योग, शतरंज और कलरीपयट्टु जैसे अभ्यासों को अवकाश और रूपांतरण की दृष्टि से देखा। इस अध्याय में ध्यान खेल और राष्ट्र के संबंध पर है। पाठ्यक्रम के अनुसार खेल और क्रीड़ा अक्सर अपने उत्पत्ति स्थान से यात्रा करके दूसरी सांस्कृतिक परंपराओं को प्रभावित करते हैं, जैसे क्रिकेट भारत में राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया गया। इसी प्रक्रिया को हम दो खंडों में समझेंगे। पहले खंड में रामचंद्र गुहा के लेख *Cricket and Politics in Colonial India* के आधार पर बंबई के सांप्रदायिक और सामाजिक संसार में क्रिकेट का इतिहास पढ़ा जाएगा। दूसरे खंड में खेल, राष्ट्रवाद और सांस्कृतिक आत्मसातकरण के व्यापक प्रश्नों पर विचार होगा, और यह देखा जाएगा कि खेल और शारीरिक संस्कृति ने आधुनिक भारतीय राष्ट्र-राज्य, सामुदायिक भावना और फुर्सत के समय के पुनर्गठन में कैसी भूमिका निभाई।

8.1 औपनिवेशिक भारत में क्रिकेट और राजनीति: रामचंद्र गुहा

रामचंद्र गुहा का लेख *Cricket and Politics in Colonial India* 1998 में *Past and Present* पत्रिका के अंक 161 में प्रकाशित हुआ। इसका पाठ उपलब्ध है और इस अध्याय के इस खंड का आधार लेख के आरंभिक अंश और गुहा की बाद की पुस्तक *A Corner of a Foreign Field: The Indian History of a British Sport* (2002) से संबद्ध सामग्री है। लेख में गुहा का दावा है कि क्रिकेट आधुनिक भारत के इतिहास के बारे में मूल्यवान अंतर्दृष्टि दे सकता है। यह मान्यता खेल को इतिहास के हाशिये की चीज़ मानने वाली धारणा को चुनौती देती है।

पोलो बनाम क्रिकेट: एक स्थानीय विवाद

गुहा अपने लेख की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के बंबई के एक विवाद से करते हैं। बंबई जिमखाना, जो केवल गोरों का क्लब था, के पास क्रिकेट के मैदान थे, और उसी क्लब के पोलो खिलाड़ी उन मैदानों का उपयोग अपने खेल के लिए चाहते थे। इसके विरोध में बंबई के भारतीय क्रिकेट खिलाड़ियों ने गवर्नर को याचिका दी, जिसमें उन्होंने कहा कि वे दशकों से क्रिकेट खेल रहे हैं और जिमखाना का क्रिकेट-मैदान अपने पोलो के लिए बदलने का प्रयास अन्यायपूर्ण है। शापुरजी सोराबजी की 1897 की पुस्तिका *The Struggle: Polo versus Cricket* इस संघर्ष का समकालीन अभिलेख थी। गुहा के अनुसार उन्नीसवीं सदी के बंबई में घोड़े और पोलो औपनिवेशिक शक्ति के प्रतीक बन गए, जबकि क्रिकेट वह खेल था जिसमें स्थानीय लोग अपने लिए जगह चाहते थे।

इस प्रसंग का विश्लेषणात्मक महत्व यह है कि यहाँ खेल का मैदान सीधे राजनीतिक संघर्ष का विषय बन जाता है। सवाल इस बात का था कि शहर की सीमित भूमि पर किसका अधिकार होगा: उसका जिसके पास शासन है, या उसका जिसके पास आबादी है। इस अर्थ में क्रिकेट का मैदान बारात या रथ के मार्ग की तरह ही सार्वजनिक स्थान पर अधिकार का दावा था, जो इस इकाई के पिछले अध्यायों का सूत्र रहा है। पर यहाँ दावेदार जुलूस नहीं, खिलाड़ी थे।

यह संघर्ष एक और बात दिखाता है। जिन भारतीयों ने क्रिकेट अपनाया, वे इसे उपनिवेशवादी के सामने समर्पण नहीं मानते थे। उनके लिए यह अंग्रेज़ों के अपने ही खेल में अंग्रेज़ों के बराबर होने का प्रयास भी था। बाद के दशकों में क्रिकेट की यही भूमिका और स्पष्ट हुई, जब पारसी, हिंदू और मुस्लिम क्लबों ने यूरोपीय टीमों को हराना अपनी सामुदायिक और राष्ट्रीय उपलब्धि माना।

बंबई में जिमखाना संस्कृति और सांप्रदायिक क्रिकेट

पाठ्यक्रम के विवरण में बंबई की जिमखाना संस्कृति पर विशेष ज़ोर है, जिसमें पारसी, हिंदू, मुस्लिम और यूरोपीय समुदाय शामिल थे। इस संस्कृति का एक संक्षिप्त नक्शा इस प्रकार है। पारसी समुदाय भारतीय समुदायों में सबसे पहले क्रिकेट को अपनाने वालों में था। ओरिएंटल क्रिकेट क्लब की स्थापना 1848 में हुई, और पारसी टीमों ने 1886 और 1888 में इंग्लैंड का दौरा किया। पारसी जिमखाना की स्थापना 1885 में हुई, इस्लाम जिमखाना की 1892 में और हिंदू जिमखाना की 1894 में। गुहा के लेख के अनुसार शासन ने इन तीनों समुदाय-आधारित जिमखानों को समुद्र-तट की मूल्यवान भूमि अनुदान में दी, जिससे उनका सांप्रदायिक चरित्र और पुख़्ता हुआ। एक समकालीन समीक्षा के अनुसार ऐसा करते हुए बंबई के गवर्नर वही रणनीति अपना रहे थे जो 1905 में लॉर्ड कर्ज़न ने बंगाल के विभाजन में अपनाई थी: समुदायों को अलग-अलग इकाइयों के रूप में मान्यता देना।

इन्हीं क्लबों के बीच होने वाली प्रतियोगिता क्रिकेट के इतिहास का सबसे चर्चित अध्याय है। यह टूर्नामेंट 1892 के आसपास यूरोपीय और पारसी टीमों के बीच प्रेसिडेंसी मैचों के रूप में शुरू हुआ। 1907 में हिंदुओं की टीम इसमें शामिल हुई और 1912 में मुस्लिम टीम, जिसके बाद यह चतुष्कोणीय प्रतियोगिता कहलाने लगी। 1937 में इसमें पाँचवीं टीम, अर्थात शेष, जोड़ी गई और यह पंचकोणीय प्रतियोगिता हो गई। यह प्रतियोगिता 1946 तक चली। बीसवीं सदी के आरंभ तक यह बंबई की सबसे अधिक प्रतीक्षित वार्षिक घटना बन चुकी थी, और जनता का उत्साह इतना बड़ा था कि कांग्रेस और अन्य संगठनों ने इसे ग़ैर-सांप्रदायिक आधार पर पुनर्गठित करने का प्रयास किया, पर जनभावना के सामने वे प्रयास विफल रहे।

इस व्यवस्था की विडंबना स्पष्ट है। एक ओर यह टूर्नामेंट भारतीय समुदायों को अंग्रेज़ों के बराबर खड़ा करने का मंच था। दूसरी ओर यह धर्म और समुदाय के आधार पर पहचान को स्थायी बनाता था, और इसी कारण उपनिवेशी सत्ता की विभाजनकारी नीति के साथ भी सुसंगत बैठता था। गुहा के अनुसार यह खेल भारतीय समाज में जाति, धर्म और राष्ट्रीयता की अभिव्यक्तियों का माध्यम बना। यही बात पाठ्यक्रम के विवरण में भी कही गई है। क्रिकेट इसलिए केवल खेल नहीं था, वह पहचान की राजनीति का रंगमंच था, और इसमें खिलाड़ियों के प्रदर्शन के साथ दर्शकों का समुदाय-आधारित समर्थन भी शामिल था।

जाति और क्रिकेट: पालवंकर बालू की कहानी

गुहा के अध्ययन का सबसे मार्मिक पक्ष पालवंकर बालू की जीवनी है। बालू एक दलित पृष्ठभूमि से आने वाले बाएँ हाथ के धीमे गेंदबाज़ थे, जो अपने समय के सर्वश्रेष्ठ भारतीय गेंदबाज़ों में गिने गए। वे 1911 में इंग्लैंड गई पहली भारतीय टीम में शामिल हुए, जिसकी कप्तानी पटियाला के महाराजा भूपिंदर सिंह के पास थी। परंतु अपनी प्रतिभा के बावजूद बालू को हिंदू जिमखाना की टीम में बार-बार हाशिये पर रखा गया और कप्तानी से वंचित किया गया। बाद में वे उपकप्तान बने और चतुष्कोणीय के फ़ाइनल की एक पारी में नेतृत्व का अवसर भी पाया। उनके भाई पालवंकर विठ्ठल ने 1923 में हिंदू टीम की कप्तानी की।

इस कहानी से तीन बातें निकलती हैं। पहली, जाति की सामाजिक पदानुक्रमता खेल के मैदान पर भी उतनी ही सक्रिय थी, जबकि मैदान को योग्यता का स्थान माना जाता है। दूसरी, खेल ने दलितों के लिए सार्वजनिक उत्कृष्टता और सामाजिक मान्यता का रास्ता भी खोला। बालू का उदाहरण दिखाता है कि प्रदर्शन के आधार पर सम्मान पाने की संभावना थी, यद्यपि सीमित और संघर्षपूर्ण। तीसरी, बालू और बी. आर. आंबेडकर के बीच बाद का राजनीतिक संबंध इस प्रसंग को खेल से बाहर ले जाता है: 1937 के बंबई के चुनाव में बालू ने कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में आंबेडकर के विरुद्ध चुनाव लड़ा, और आंबेडकर विजयी हुए। इस घटना में खेल की प्रतिष्ठा राजनीतिक पूँजी में बदलती दिखती है, और यह प्रश्न भी उठता है कि दलित प्रतिनिधित्व को लेकर कांग्रेस और आंबेडकर के बीच के बड़े विवाद में क्रिकेट का एक नायक भी प्रतिभागी बना।

गांधी, क्रिकेट और सांप्रदायिक प्रतियोगिता

गांधी का क्रिकेट के साथ संबंध जटिल था। वे खेल को उपनिवेशवादी सभ्यता के आकर्षण का हिस्सा मानते थे, और अपने लेखन में उन्होंने औपनिवेशिक माहौल में पले-बढ़े भारतीयों के फ़ुटबॉल और क्रिकेट के उन्माद पर चिंता जताई। साथ ही दक्षिण अफ़्रीका में उन्होंने फ़ुटबॉल क्लबों का संगठन किया था, इसलिए वे खेल के सामाजिक उपयोग से अपरिचित नहीं थे। गुहा के अध्ययन में गांधी का प्रमुख प्रसंग 1930 के दशक के अंत और 1940 के आरंभ का है, जब उन्होंने बंबई की सांप्रदायिक प्रतियोगिता की आलोचना की, क्योंकि वह धार्मिक विभाजन को खेल के माध्यम से गहरा बनाती थी। एक समीक्षक के अनुसार इस प्रतियोगिता के बंद होने में गांधी की भूमिका भी रही, यद्यपि इसके अंत में अन्य कारकों, जैसे 1940 के दशक की राजनीतिक परिस्थितियों, ने भी भूमिका निभाई। प्रतियोगिता के बारे में गांधी के विचारों के विशिष्ट कथनों के लिए गुहा के मूल पाठ और गांधी के लेखन को देखना आवश्यक है।

इस प्रसंग का सबक यह है कि राष्ट्रवादी नेतृत्व स्वयं खेल की राजनीति के बारे में विभाजित था। एक पक्ष क्रिकेट को राष्ट्रीय भावना के निर्माण का साधन मानता था, और दूसरा पक्ष उसे सांप्रदायिकता और उपनिवेशवाद के आकर्षण का स्रोत मानता था। इन दोनों के बीच जो तनाव था, वही आज भी भारत-पाकिस्तान के क्रिकेट मैचों में उभरने वाली भावनाओं में दिखता है, जिसका उल्लेख गुहा की पुस्तक की भूमिका में भी है।

क्रिकेट का राष्ट्रीय विस्तार

बीसवीं सदी के दौरान क्रिकेट बंबई की सांप्रदायिक प्रतियोगिताओं से आगे बढ़कर पूरे देश का खेल बना। रियासतों के शासकों ने इसमें भारी निवेश किया। 1932 में भारत ने अपना पहला टेस्ट मैच इंग्लैंड में लॉर्ड्स पर खेला, और सी. के.

नायडू जैसे बल्लेबाज़ इसके पहले राष्ट्रीय नायकों में गिने गए। स्वतंत्रता के बाद क्रिकेट का स्वरूप धीरे-धीरे बदला। कुछ आलोचक कहते हैं कि भारतीय क्रिकेट में आज भी ऊँची और मध्यम जातियों का प्रभुत्व है, यद्यपि खेल का विस्तार पूरे देश में हो चुका है। रेडियो कमेंट्री, फिर 1983 में लॉर्ड्स पर विश्व कप की जीत, उसके बाद टेलीविज़न का प्रसार और 2008 में इंडियन प्रीमियर लीग की शुरुआत ने इसे जन-माध्यम और उद्योग, दोनों बना दिया।

आशीष नंदी का एक प्रसिद्ध निबंध इस प्रक्रिया की एक रोचक व्याख्या देता है। उनका तर्क है कि क्रिकेट मूलतः एक भारतीय खेल है जिसे संयोग से अंग्रेज़ों ने खोज लिया, क्योंकि उसकी लंबी अवधि, अनिश्चितता और भाग्य तथा कौशल के मिश्रण वाली प्रकृति भारतीय संवेदना के निकट है। यह एक उत्तेजक विचार है, जो गुहा की इतिहासकार वाली दृष्टि से भिन्न है। एक अध्येता के रूप में इन दोनों को साथ रखना उपयोगी है, क्योंकि एक खेल के इतिहास को ठोस संस्थाओं और संघर्षों में पढ़ता है और दूसरा उसके सांस्कृतिक अर्थों को।

8.2 खेल, राष्ट्रवाद और सांस्कृतिक आत्मसातकरण

पाठ्यक्रम का दूसरा खंड औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश खेलों के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया और खेल के माध्यम से राष्ट्रीय पहचान के निर्माण पर है। इस खंड के लिए अलग से कोई पाठ निर्दिष्ट नहीं है, इसलिए यहाँ विश्लेषण गुहा के अध्ययन और खेल के इतिहास पर उपलब्ध व्यापक विद्वत्ता पर आधारित है।

ब्रिटिश खेल-नीति: खेल की नैतिकता और साम्राज्य

उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन में खेल को नैतिक शिक्षा का साधन माना जाता था। पब्लिक स्कूलों में खेल की नैतिकता के विचार के अंतर्गत यह धारणा बनी कि टीम के साथ खेलना चरित्र-निर्माण करता है, और इसी धारणा को साम्राज्य के प्रशासकों के प्रशिक्षण से जोड़ा गया। जे. ए. मैंगन जैसे इतिहासकारों ने इसे खेल की नैतिकता और साम्राज्यवाद के संबंध के रूप में अध्ययन किया है। उपनिवेशों में खेल का प्रसार केवल मनोरंजन नहीं, सभ्यता-मिशन का भी हिस्सा था, क्योंकि अंग्रेज़ों का मानना था कि इन खेलों से स्थानीय लोग अनुशासन और निष्पक्षता सीखेंगे। इसलिए भारत में क्रिकेट और अन्य खेलों को स्कूलों, कॉलेजों और सैन्य छावनियों के माध्यम से फैलाया गया।

यहीं एक अंतर्विरोध उभरता है। जिस खेल को अंग्रेज़ों ने अपने चरित्र के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया, उसी में भारतीयों के साथ भेदभाव भी होता था। क्लबों में भारतीयों का प्रवेश सीमित था, और टीमों के चयन में नस्ल का प्रभाव रहता था। गुहा के अनुसार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के बंबई में भारतीय खिलाड़ियों ने यह पाया कि उनके शासक अपने उपदेश के आदर्शों के अनुरूप आचरण नहीं करते। यह अनुभव राष्ट्रवादी चेतना का स्रोत बना। जब कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई, उसी समय बंबई में पारसी क्रिकेट विवाद चल रहा था, जो इस ओर संकेत करता है कि खेल के मैदान की शिकायतें और राजनीतिक संगठन की माँगें एक ही सामाजिक अनुभव से उपजी थीं।

भारतीय प्रतिक्रियाएँ: अनुकरण, प्रतिरोध और पुनर्रचना

ब्रिटिश खेलों के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया एक रंग की नहीं थी। एक धारा अनुकरण की थी, जिसमें अभिजात और शिक्षित वर्ग ने खेल अपनाया ताकि वे बराबरी का दावा कर सकें। दूसरी धारा प्रतिरोध की थी, जिसमें अंग्रेज़ी टीमों को हराना राष्ट्रीय गौरव का विषय बना। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण बंगाल में 1911 में मोहन बागान का फ़ुटबॉल है। उस वर्ष मोहन बागान ने आईएफए शील्ड के फ़ाइनल में एक अंग्रेज़ी सैन्य टीम को हराया। टीम के कई खिलाड़ी नंगे पाँव

खेले, और इस जीत को व्यापक रूप से राष्ट्रीय गौरव की घटना माना गया। यह उदाहरण यह भी दिखाता है कि खेल की जीत औपनिवेशिक श्रेष्ठता के मिथक को सार्वजनिक रूप से चुनौती दे सकती है।

तीसरी धारा पुनर्रचना की थी, जिसमें स्वदेशी शारीरिक संस्कृति को पुनर्जीवित और संगठित किया गया। अखाड़ों, व्यायामशालाओं और कुश्ती की परंपराओं को राष्ट्रीय शक्ति के साधन के रूप में देखा गया। स्वामी विवेकानंद के नाम से यह कथन प्रचलित है कि युवा गीता को फ़ुटबॉल के मैदान पर अधिक अच्छी तरह समझेंगे, यद्यपि इस कथन के सटीक स्रोत पर विद्वानों के बीच संदेह है, इसलिए इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। फिर भी यह विचार कि सबल शरीर राष्ट्रीय पुनर्जागरण की शर्त है, उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के आरंभ के भारतीय सुधारकों और राष्ट्रवादियों में व्यापक रूप से मिलता है। इस शारीरिक संस्कृति में पुरुष-शरीर की छवि केंद्रीय थी, और इसके पीछे औपनिवेशिक विमर्श की उस धारणा का प्रतिकार भी था जो भारतीय पुरुष को दुर्बल और अकर्मण्य बताती थी।

इन तीनों धाराओं को सांस्कृतिक आत्मसातकरण के प्रश्न से जोड़ना उपयोगी है। आत्मसातकरण का एक पक्ष यह है कि शासित समाज शासक की संस्कृति को अपनाता है। दूसरा पक्ष यह है कि अपनाने की प्रक्रिया में संस्कृति का रूप और अर्थ बदलता है। क्रिकेट का भारतीयकरण इसका अच्छा उदाहरण है: खेल के नियम वही रहे, पर उसके सामाजिक अर्थ, दर्शक-संस्कृति और प्रतिष्ठा के स्रोत बदल गए। इसीलिए सांस्कृतिक आत्मसातकरण को एकतरफ़ा सांस्कृतिक अधीनता के रूप में पढ़ना अधूरा है।

खेल और राष्ट्र-राज्य के निर्माण में योगदान

स्वतंत्रता के बाद खेल को राज्य ने राष्ट्र-निर्माण के साधन के रूप में देखा। 1928 के एम्स्टर्डम ओलंपिक में भारत की हॉकी टीम ने स्वर्ण पदक जीता, और 1948 में लंदन में स्वतंत्र भारत के रूप में पहली बार स्वर्ण जीता, जिसे राष्ट्रीय गौरव के क्षण के रूप में याद किया जाता है। 1951 में दिल्ली में पहले एशियाई खेलों का आयोजन हुआ, जो नवस्वतंत्र एशियाई राष्ट्रों के बीच सद्भाव और सांस्कृतिक कूटनीति का मंच था। इस प्रकार खेल का अंतरराष्ट्रीय आयोजन नए राष्ट्र की पहचान को विश्व के सामने प्रस्तुत करने का माध्यम बना, जो गणतंत्र दिवस परेड की उस भूमिका से मिलता-जुलता है जिसकी चर्चा हमने पिछले अध्याय में की थी।

सामुदायिक भावना के निर्माण में भी खेल की भूमिका है। बेनेडिक्ट एंडरसन की कल्पित समुदाय की धारणा के अनुसार राष्ट्र लाखों अपरिचित लोगों के बीच साझा कल्पना है। क्रिकेट मैच इसका सटीक उदाहरण है: रेडियो कमेंट्री या टेलीविज़न के समय करोड़ों लोग एक साथ एक ही परिणाम की प्रतीक्षा करते हैं और एक ही टीम को "अपनी" टीम कहते हैं। इस सामूहिक भावना की सीमा भी है। भारत-पाकिस्तान जैसे मैचों में यही राष्ट्रीय भावना शत्रुता की भाषा में बदल सकती है, और टीम में किस समुदाय के खिलाड़ी को कैसे देखा जाता है, यह प्रश्न राष्ट्र की समावेशिता की परीक्षा बन जाता है।

हाल के वर्षों में राज्य ने खेल और शारीरिक संस्कृति को स्वास्थ्य और राष्ट्रीय क्षमता से जोड़ने वाली नीतियाँ भी चलाई हैं। 2018 में खेलो इंडिया कार्यक्रम का आरंभ हुआ और 2019 में फ़िट इंडिया आंदोलन की घोषणा हुई। ये पहलें शारीरिक संस्कृति को राष्ट्रीय विकास का हिस्सा मानती हैं और साथ में अंतरराष्ट्रीय योग दिवस जैसी पहलें भी इसी दिशा में हैं। ये कार्यक्रम उस प्रक्रिया की निरंतरता हैं जिसमें राज्य नागरिक के शरीर और उसके खाली समय में रुचि लेता है।

फुर्सत के समय का पुनर्गठन

पाठ्यक्रम की सूची में अंतिम बिंदु फुर्सत के समय के पुनर्गठन का है। औद्योगिक और औपनिवेशिक आधुनिकता ने समय की एक नई व्यवस्था रची, जिसमें कार्य और अवकाश के बीच स्पष्ट विभाजन था। ई. पी. थॉम्पसन ने अपने प्रसिद्ध निबंध में औद्योगिक पूँजीवाद में समय के अनुशासन का वर्णन किया है, जिसमें घड़ी के अनुसार कार्य और विश्राम तय होते हैं। भारत में इसका एक ठोस उदाहरण साप्ताहिक अवकाश का इतिहास है। बंबई के मिल मज़दूरों के नेता नारायण मेघाजी लोखंडे के प्रयासों के बाद 1890 में रविवार की छुट्टी की व्यवस्था हुई, जिसे श्रमिक अवकाश के संस्थागत होने का आरंभ माना जाता है। इसी व्यवस्था ने साप्ताहिक छुट्टी के दिन को खेल, मेलों और सामुदायिक आयोजनों के लिए संभव बनाया।

जब छुट्टी का एक नियमित दिन उपलब्ध हुआ, तो क्लब, मैच और टूर्नामेंट जैसी संस्थाओं के लिए समय भी बना। इस प्रकार खेल का संस्थागत विकास और अवकाश के समय का पुनर्गठन एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। यह भी याद रखना चाहिए कि अवकाश सबके लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं था। महिलाओं का घरेलू श्रम, ग्रामीण कृषि-जीवन और असंगठित मज़दूरी करने वालों के लिए खाली समय सीमित था, और अवकाश-गतिविधियों में उनकी भागीदारी असमान रही। इसलिए अवकाश का इतिहास सामाजिक असमानता का इतिहास भी है।

आज का परिदृश्य और भी जटिल है। टेलीविज़न और डिजिटल माध्यमों ने खेल को घर के भीतर का अवकाश-उपभोग बना दिया है, और क्रिकेट जैसे खेल का दर्शक-अनुभव निजी स्क्रीन पर भी सामूहिक कल्पना का हिस्सा है। साथ ही फ़ैंटेसी लीग और सट्टेबाज़ी वाले ऐप जैसी नई गतिविधियाँ अवकाश और वाणिज्य के रिश्ते को बदल रही हैं। इन परिवर्तनों को समझने के लिए गुहा जैसे ऐतिहासिक अध्ययनों के साथ वर्तमान के समाजशास्त्रीय शोध की भी आवश्यकता है।

8.3 इकाई का समग्र निष्कर्ष: जुलूस से खेल के मैदान तक

इस इकाई के चारों अध्याय एक बड़ी रूपरेखा में जुड़ते हैं। पहले अध्याय में हमने देखा कि धार्मिक जुलूस पवित्र स्थान को चलायमान बनाकर सत्ता और पहचान का दावा करते हैं। दूसरे अध्याय में बारात, दांडी मार्च और गणतंत्र दिवस परेड ने दिखाया कि स्थान, ध्वनि और वेशभूषा के नियोजन से सामाजिक प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय कल्पना रची जाती है। तीसरे अध्याय में योग, शतरंज और कलरीपयट्टु ने अवकाश और रूपांतरण के बीच के रिश्ते को खोला। इस चौथे अध्याय में क्रिकेट और अन्य खेलों ने दिखाया कि खेल का मैदान भी जाति, धर्म और राष्ट्र की राजनीति का मंच है।

इन सभी में एक साझा सूत्र यह है कि सार्वजनिक प्रदर्शन, चाहे वह जुलूस हो या खेल, समाज को स्वयं अपने बारे में कुछ कहने का मौक़ा देता है। इसलिए प्रदर्शन का अध्ययन केवल सांस्कृतिक रूपों का वर्णन नहीं, सामाजिक संबंधों और शक्ति की संरचनाओं का विश्लेषण है। जिस प्रश्न से हमने शुरुआत की थी, यानी क्या विदेशी संस्कृति को अपनाना समर्पण है या पलटवार, उसका उत्तर भी इसी विश्लेषण में है: दोनों संभावनाएँ एक साथ मौजूद रहती हैं, और किसी खेल का राजनीतिक अर्थ इस बात पर निर्भर करता है कि उसे कौन, किस संदर्भ में और किसके विरुद्ध खेलता है।

8.4 अध्ययन की पद्धति पर टिप्पणी

इस अध्याय के लिए गुहा के लेख का आरंभिक पाठ और उनकी पुस्तक की समीक्षाएँ देखी जा सकीं। पर लेख के सभी पृष्ठ मेरे सामने नहीं थे, इसलिए विशिष्ट तिथियों, संख्याओं और घटनाओं, जैसे गांधी के कथन, प्रतियोगिता के बंद होने के कारण और जिमखानों की स्थापना के वर्ष, की पुष्टि मूल पाठ और मान्य इतिहास-ग्रंथों से कर लेना उचित होगा। खंड 4.2 में पाठ्यक्रम ने कोई निर्दिष्ट पाठ नहीं दिया है, इसलिए वह खंड व्यापक शोध के सामान्य निष्कर्षों पर आधारित एक संश्लेषण है, किसी एक लेखक के तर्क का सार नहीं।

8.5 सारांश

इस अध्याय में हमने गुहा के अध्ययन के माध्यम से देखा कि औपनिवेशिक बंबई में क्रिकेट मैदान और पहचान की राजनीति का मंच बना। पोलो बनाम क्रिकेट के विवाद से आरंभ होकर, पारसी, हिंदू और इस्लाम जिमखानों की संस्कृति, चतुष्कोणीय प्रतियोगिता, पालवंकर बालू की जाति-संघर्ष कथा और गांधी की आलोचना तक, खेल हर जगह समाज के विभाजनों और आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करता दिखा। दूसरे खंड में ब्रिटिश खेल-नीति, भारतीय अनुकरण, प्रतिरोध और पुनर्रचना की धाराओं, स्वतंत्र भारत में खेल की राज्य-नीति और फुर्सत के समय के पुनर्गठन की चर्चा हुई। निष्कर्ष यह कि खेल और शारीरिक संस्कृति आधुनिक राष्ट्र-राज्य के निर्माण में सहभागी भी रहे और उसके अंतर्विरोधों के दर्पण भी।

8.6 पाठ-सूची

- Guha, Ramachandra. "Cricket and Politics in Colonial India." Past and Present, no. 161 (November 1998), pp. 155-190.
- Guha, Ramachandra. A Corner of a Foreign Field: The Indian History of a British Sport. London: Picador, 2002.
- Nandy, Ashis. The Tao of Cricket: On Games of Destiny and the Destiny of Games. New Delhi: Viking, 1989.
- Mangan, J. A. The Games Ethic and Imperialism: Aspects of the Diffusion of an Ideal. London: Viking, 1986.
- Anderson, Benedict. Imagined Communities. London: Verso, 1983.
- Thompson, E. P. "Time, Work-Discipline and Industrial Capitalism." Past and Present, no. 38 (1967), pp. 56-97.
- Sorabjee, Shapoorjee. The Struggle: Polo versus Cricket. Bombay, 1897 (गुहा के लेख में उद्धृत)।